गणेश शंकर विद्यार्थी

गणेशशंकर विद्यार्थी

'स्वेच्छा-मरण ही मुक्ति है।'

— गान्धी जी

लेखक

श्री देवव्रत

नवयुग प्रकाशन मन्दिर
विद्यापीठ रोड, बनारस छावनी

१९३१

प्रकाशक
नवयुग प्रकाशन मन्दिर,
विद्यापीठ रोड, बनारस छावनी

मूल्य
सजिल्द २)
अजिल्द १॥)

मुद्रक
श्रीप्रवासीलाल वर्मा मालवीय,
सरस्वती-प्रेस, काशी

समर्पण

स्वाधीनता के जिस परम उपासक

तथा

मानवता के जिस महान पुजारी

की यह वीर-गाथा है

उसी की

पुण्य-स्मृति में

—देवव्रत

भूमिका

लखनऊ का स्टेशन था। मार्च का महीना। देहली के समझौते होने पर सत्याग्रही कैदी जेलों से छूट रहे थे और गणेश जी भी छूट कर आ रहे थे। हम लोग अपने प्रान्त के सेनापति का स्वागत करने स्टेशन पर गए और उनका हँसमुख चेहरा एक साल भर बाद देख कर खुश हुए। बहुत-कुछ बातें करनी थीं, बहुत-कुछ मन-सूबे गाँठने थे, लेकिन समय कम था। कुछ बातें हुईं, फिर कहा कि बाद में होंगी। वह 'बाद' फिर नहीं आया।

करांची कांग्रेस में वर्किंग-कमेटी की बैठक हो रही थी। एक तार आया और उसको देखते ही दिल बैठ गया और आँखों में अँधेरा छा गया। यक़ीन नहीं आता था कि गणेश जी गुज़र गए। कांग्रेस की भीड़ में भी सन्नाटा-सा मालूम होता था।

रंज हुआ और दिल को समझाने पर भी दिल समझा नहीं। लेकिन रंज की बात क्या ? गणेश जी जैसे जिए, वैसे ही मरे और अगर हममें से कोई आरज़ू करे और अपने दिल की सबसे प्यारी इच्छा पूरी करना चाहे तो वह इससे अधिक क्या माँग सकता है कि उसमें इतनी हिम्मत हो कि मौत का सामना अपने भाइयों की और देश की सेवा में कर सके, और इतना ख़ुश-क़िस्मत हो कि गणेश जी की तरह मरे। शान से वह जिए और शान से वह मरे और मर कर जो उन्होंने सबक़ सिखाया वह हम बरसों जिन्दा रह कर क्या सिखावेंगे!

यह ठीक है कि हम सब उनके जीवन का हाल पढ़ें और उससे सीखें कि इंसान को कैसे ज़िन्दा रहना चाहिये। और उनके मरने का हाल पढ़ें और सीखें कि हमको कैसे मरना चाहिये। हमारे देश का एक चमकता हुआ सितारा चला गया। लेकिन उसकी चमक तो बाक़ी है और मुल्क को रोशन करती है और उसकी गरमी मुरझाए हुए दिलों को ज़िन्दा करती है—तो रंज क्या ?

गणेश जी के जीवन का ख्याल कर मुझे मालूम होता है कि उन्होंने ज़िन्दगी का असली लुत्फ़ उठाया। जैसे जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने लिखा है—

This is the true joy in life, the being used for a purpose recognised by yourself as a mighty one ; the being thoroughly worn out before you are thrown on the scrap heap ; the being a force of nature, instead of a feverish, selfish little clod of ailments and grievances, Complaining that the world will not devote itself to making you happy, *

आनन्द भवन,
इलाहाबाद
विजयादशमी १९८८

जवाहरलाल नेहरू

---

* मानव जीवन का सच्चा सुख इसी में है कि जीवन का एक ऐसे उद्देश्य के लिये उपयोग किया जाय जिसको आप महान् और उत्कृष्ट समझते हों आप अच्छी तरह जीर्ण और जर्जरित हो जावें पूर्व इसके कि कूड़े के ढेर में फेंक दिए जावें और आप प्रकृति की एक शक्ति हों न कि क्लेश, शोक और उपालम्भों के ज्वर-ग्रस्त और क्षुद्र मृत्पिण्ड हों जो सदा यही शिकायत करता रहता है कि संसार मुझको सुखी बनाने की ओर ध्यान नहीं देता।

प्रस्तावना

शहीद-शिरोमणि श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी का जीवन महान् था। वे साधारण आदमियों से बहुत ऊपर थे; परन्तु उनके बलिदान ने उन्हें और भी महान बना दिया। देश में सैकड़ों उनसे कहीं अधिक विद्वान, बीसों कहीं अच्छे वक्ता और अनेक उनसे बढ़ कर कुशल पत्रकार होंगे। ख्यात नामा नेता भी न मालूम कितने हो गये और कितने आगे होंगे; परन्तु आत्मोत्सर्ग की जो महानता उनमें थी, जिस विशालता से उनका जीवन अनुप्राणित था, उसके दर्शन मानव-इतिहास में बहुत कम होते हैं। विद्यार्थी जी का सारा जीवन युद्धमय था। वे सदा शैतानियत के विरुद्ध लड़ते रहे, हमेशा अमानुषिकता के खिलाफ जिहाद करते रहे, किन्तु उनकी अंतिम लड़ाई, अमानुषिकता के खिलाफ, उनका आखिरी जिहाद, बड़ा अनोखा, बिलकुल बेजोड़ था। मनुष्यता की पूजा का इससे अधिक सुन्दर नमूना और क्या मिलेगा? शैतानियत का नग्न-नृत्य हो रहा था, विनाश का देवता खुल कर खेल रहा था। जो व्यक्ति ज़िन्दगी भर शैतानियत के ख़िलाफ लड़ता रहा, वह चुपचाप कैसे बैठा रहता? वह थका हुआ था, कारागार से एक वर्ष की सख्त सज़ा भुगत कर लौटा ही था। उसने अपने प्यारे बच्चों को एक वर्ष के वियोग के पश्चात् एक बार जी भर कर खेलाया भी न था, उसने

अपनी रुग्ना और हृदय-भग्ना पत्नी को साँत्वना भी न दी थी, परन्तु इससे क्या ? उसका हृदय हिल गया। उसने अपने हृदय में सैकड़ों बच्चों का रुदन, मरते हुए नरों और आपत्ति-ग्रस्त अबलाओं की दीन पुकार सुनी। मानवता का पुजारी, अन्याय का विरोधी, वह ढाई पसलियों का मानव शरीर ऐसे मौके पर कैसे बैठा रहता ? शरीर की तो कोई चिन्ता थी ही नहीं! 'वह तो साईं तुम्हारा ही है, तुम्हें समर्पित करते मेरा लगता क्या है ?' (त्वदीयंवस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्प्यते)। २५ मार्च (१९३१ ई०) उनके जीवन का अन्तिम दिवस था, और वही उसके पूर्ण आत्म-समर्पण का शुभ मुहूर्त भी। उसने अपने ईश्वर के चरणों में, अपने सिद्धान्त की वेदी पर, अपने को अर्पित कर दिया। अपने को अमर शहीद बना लिया, मानवता का अनन्य पुजारी साबित कर दिखाया।

विद्यार्थी जी बहुतों के श्रद्धा-भाजन, और अनेकों के माननीय तथा आदरास्पद नेता थे, परन्तु उनके बलिदान ने उन्हें न जाने और कितनों का उपास्यदेव बना लिया। लोग महापुरुषों के जीवन चरित्र से बहुत प्रभावित होते हैं। साहित्य में महात्माओं की जीवनियों का स्थान बड़ा ऊँचा है, यही जान कर लेखक ने मानवता के उस पुजारी की जीवन-गाथा इस पुस्तक में कहने का प्रयत्न किया है। अगर पुस्तक पाठकों को, मानवता के उस महान पुजारी के आदर्शों की ओर आकृष्ट करने में कुछ भी सहायक हुई, तो लेखक अपने को धन्य मानेगा।

पुस्तक के लिखने में मुझे आचार्य पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी,

श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, डा० बेनीप्रसाद, पं० रामचन्द्रशुक्ल, पं० बालकृष्ण शर्मा, पं० विष्णुदत्तशुक्ल, श्री शिवव्रतनारायण, भाई हरिशंकर विद्यार्थी आदि महानुभावों तथा मित्रों से बहुत अधिक मदद मिली है। इसके लिये मैं इन सब सज्जनों का बहुत कृतज्ञ हूँ। मैं नवयुग प्रकाशन मन्दिर का भी बहुत एहसान मानता हूँ, जिसकी सहायता से यह पुस्तक इतनी जल्द प्रकाशित हो सकी है। जहाँ तक हो सका है इसमें विद्यार्थी जी के जीवन की सभी ख़ास ख़ास बातें देने की चेष्टा की गई हैं, फिर भी किन्हीं बातों का छूट जाना असंभव नहीं। कृपालु पाठक अगर उन बातों की सूचना मुझे देंगे तो मैं उनका बड़ा आभार मानूँगा और दूसरे संस्करण में उन बातों को जोड़ दूँगा।

'प्रताप' कार्यालय
कानपुर
अश्विन शु० १४। १९८८ वि०
(२५ अक्टूबर १९३१ ई०)

देवव्रत।

विषय-सूची

चित्र-सूची

पहला भाग

गणेशशंकर विद्यार्थी

प्रारम्भिक जीवन

'जो करो, विचार पूर्वक, निर्भीकता से, स्वतंत्र रह कर करो। पहले यह सोच लो कि अपने कल्याण के लिये क्या करना चाहते हो, और फिर उसी के अनुसार आचरण करो। देखादेखी अविचार पूर्वक किया हुआ कार्य निष्फल होता है।'

—गान्धी जी

"निस्सन्देह वह लड़ाई का पक्षपाती था। जब से उसने होश संभाला, तभी से जीवन की कठिनाइयों से लड़ाई छेड़ दी। यह लड़ाई जारी थी—वह अभी तक जारी है, कि उसने देखा, तरह-तरह की सत्ताएँ मिल कर मनुष्यता को पीस रही हैं। उसके दिल में आग लग गई। उसने इन सत्ताओं से भी लड़ाई ठान दी। लोग इस दुबले-पतले और साधन-हीन युवक के साहस को देख कर हँसे। कहने लगे—'पागल है!' लेकिन दिन जाते देर न लगी—हँसने वाले भौचक्के रह गये। उसका प्रताप चारों ओर फैलने लगा। सत्ताधारी काँपने लगे। उन्होंने अपने प्रहार शुरू किये। चेतावनियाँ दी गईं। जमानतें ली गईं। बुलावे आये। धमकियाँ भी धमकीं, तलाशियाँ हुईं और ज़ब्ती ने भी

अपना काम किया। रोक-थाम हुई, जेल की हवा भी खिलाई गई। लेकिन वह लड़ाई का पक्षपाती था! उसने इन सब प्रहारों को खुशी से सहा और अपनी लड़ाई जारी रखी।" ये सतरें अमर शहीद गणेश-शङ्कर विद्यार्थी के सम्बन्ध में उनके दूसरी दफे (१९२३ ई०) जेल जाने के बाद लिखी गई थीं। कहने वाले कह सकते हैं कि क्या हुआ, यह तो उनके किसी मित्र ने भावुकता में आ कर लिख दिया होगा। परन्तु नहीं, ये लाइनें भावुकता में नहीं लिखी गई थीं। प्रत्युत बहुत सोच समझ कर एक बड़े जिम्मेदार पत्रकार तथा खरे आलोचक द्वारा लिखी गई थीं; और दर असल उस महान आत्मा के जीवनोद्देश्य तथा उसके सदा के आचरण की परिचायिका हैं। इसकी पुष्टि उसी के शब्दों में सुनिये। १९२३ ई० में फतेहपुर जिला राजनैतिक सम्मेलन में सभापति के सिंहासन से खड़े हो कर उसने घोषणा की थी—"मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ। फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकर-शाही की हो या जमींदारों की, धनवानों की हो या ऊँची जातियों की।" यह तो उसकी मृत्यु के कई वर्ष पहले की बात है। उसके जीवन के अन्तिम समय के कुछ दिन पहले की मिसाल भी लीजिये। २९ जनवरी १९३१ की अपनी जेल डायरी में श्रद्धेय विद्यार्थी जी ने इस प्रकार लिखा है—"जीवन भर अमानुषिकता, असज्जनता के विरुद्ध लड़ता रहा। ईश्वर बल दे कि आगे भी लड़ सकूँ।" इस एक वाक्य में उस बहादुर लड़ाके के, लड़ाई के उस शानदार पक्षपाती के जीवन का खाका खिंच जाता है, झलक मिल जाती है।

उसके जीवन का यही मूल मंत्र था। आज उसी लड़ाई के पक्षपाती की वीर गाथा पाठकों के सामने उपस्थित की जा रही है।

विद्यार्थी जी का जन्म उनके ननिहाल में प्रयाग के अतरसुइया मोहल्ले में कुआर सुदी १४ रविवार संवत् १९४७ (सन् १८९० ई०) को श्रीमती गोमती देवी के उदर से (कायस्थ कुल श्रीवास्तव दूसरे में) हुआ। जब वह गर्भ में थे, तब उनकी नानी श्रीमती गंगा देवी ने स्वप्न में गणेशजी की एक मूर्ति उनकी माता के हाथ में दी। इस स्वप्न के अनुसार उन्होंने निश्चय कर लिया कि उनके जो दौहित्र होने वाला है, उसका नाम 'गणेश' और यदि वह कन्या हुई तो 'गणेशी' रखा जायगा। संयोग ऐसा कि गर्भ से लड़का ही पैदा हुआ और पूर्व निश्चयानुसार उसका नाम गणेश रखा गया, जो आगे चल कर 'गणेशशङ्कर' हो गया। जन्म के समय गणेश जी की आँखें बहुत छोटी थीं और उनकी माता जी को चिन्ता थी कि ऐसा न हो कि इसे सूझ ही न पड़े। परन्तु धीरे-धीरे आँखें ठीक हो गईं। गणेश जी का जन्म उनके परिवार के लिये हर प्रकार से शुभ सूचक हुआ। उनके जन्म के बाद उनके पिता की वेतन-वृद्धि भी हो गयी।

विद्यार्थी जी जिस समय ढाई तीन साल के थे, तब कुछ दिनों के लिये अपनी माँ के साथ अपने नाना के यहाँ सहारनपुर में रहे थे। उनके नाना मुंशी सूरजप्रसाद सहारनपुर जिला जेल के असिस्टेंएट जेलर थे। जेल में डबल रोटियाँ बना कर बाहर बिकने को जातीं। विद्यार्थी जी के नाना रोज उनमें से एक छोटी रोटी

लेकर विद्यार्थी जी को खाने को देते और ये बड़ी खुशी से उसे उड़ा जाते। तात्पर्य यह कि जेल की रोटियाँ खाने के आदी विद्यार्थी जी अपनी ढाई वर्ष की उम्र से ही हो गये थे और वह उनके मुँह इतनी लग गई थी कि अन्तिम समय तक भी न छूटी और उसके लिये पाँच-पाँच दफे उन्होंने जेल की हवा खाई।

श्री गणेशशङ्कर जी के पिता श्रीयुत जयनारायण जी हथगाँव जिला फतेहपुर के निवासी थे। उनके पितामह का नाम मुंशी वंशगोपाल और प्रपितामह का नाम मुंशी देवीप्रसाद था। उर्दू और फारसी के पंडित थे। अंग्रेजी का अध्ययन भी उन्होंने स्वयं अपने उद्योग से किया था। ज्योतिष की बहुत अच्छी जानकारी रखते थे। १९२३ ई० में फतेहपुर के भाषण के लिये जेल जाने के करीब छः मास पहले उन्होंने विद्यार्थी जी से कह दिया था कि व्याख्यान आदि ज़रा सँभल के देना, तुम्हारा यह वर्ष अच्छा नहीं है। शिकोहाबाद (मैनपुरी) के थानेदार वाला 'प्रताप' का मानहानि का मुकदमा जिस समय हाई कोर्ट में गया, उस समय विद्यार्थी जी के मित्र पं० शिवनारायण जी ने उनसे पूछा था कि बतलाइये, इस मुकदमे में हम लोगों की हार होगी या जीत। उन्होंने कहा कि हाई कोर्ट से तुम लोगों की विजय होगी; और अन्त में उनकी बात ठीक निकली भी।

विद्यार्थी जी की उम्र जब पाँच छः साल की थी उस समय उनके पिता जी ग्वालियर रियासत के मुंगावली नामक स्थान में ऐंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल के सेकेण्ड मास्टर थे। विद्यार्थी जी के

बाल्य काल का अधिक भाग वहीं बीता और शिक्षा का श्रीगणेश भी वहीं हुआ। पिता जी ने आप को शुरू में उर्दू पढ़ाना ही आरंभ कराया। अंग्रेजी पढ़ना बाद को शुरू हुआ। १९०१ ई० में, अर्थात् जब विद्यार्थी जी की उम्र ११ साल की थी, उनके पिता जी की बदली मुंगावली से भेलसा को हो गई और इस कारण विद्यार्थी जी भी उनके साथ कुछ दिन वहीं रहे। १९०५ ई० में विद्यार्थी जी ने अंग्रेजी मिडिल पास किया। मिडिल में इन्होंने हिन्दी द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ी थी। मिडिल पास होने के बाद पिता जी ने विद्यार्थी जी को उनके बड़े भाई श्री शिवव्रत नारायण जी के पास, जो उस समय कानपुर में नौकरी करते थे, नौकरी करने के लिये भेज दिया। परन्तु बड़े भाई साहब उन्हें और पढ़ाना चाहते थे इसलिये एण्ट्रेंस की किताबें खरीद कर उन्हें पिता जी के पास वापस करते हुए एण्ट्रेंस परीक्षा की तैयारी करने को कहा। १९०३ ई० में पिता जी का तबादला भेलसे से फिर मुंगावली हो गया और विद्यार्थी जी वहीं रह कर एण्ट्रेंस की तैयारी करने लगे। वे वहाँ पर वहाँ के हेडमास्टर श्री कान्हकुँवर जी से निजी तौर पर पढ़ते थे और निजी तौर पर ही उन्होंने एण्ट्रेंस की परीक्षा भी दी। उनकी एण्ट्रेंस की परीक्षा का केन्द्र कानपुर का वर्तमान क्राइस्ट चर्च कालेज था। १९०७ ई० में वे द्वितीय श्रेणी में एण्ट्रेंस पास हो गये। एण्ट्रेंस में उनकी दूसरी भाषा फारसी थी। इस परीक्षा के नतीजे के सम्बन्ध में भी एक खासा मजाक हुआ। नतीजा आया और उन्होंने अपना नाम तृतीय श्रेणी के पासशुदा

विद्यार्थियों की सूची में देखा। जब नाम वहाँ न मिला तो गणेश जी बड़े निराश हुए और उन्होंने समझा कि वे फेल हो गये। चुनाँचे बिना और सूची देखे ही वे वहाँ से चल दिये। बड़े उदास मुँह जब वे घर पहुँचे तो घर के किसी गुरुजन ने कहा कि भाई तुम खूब अच्छे पास हुए, दूसरे डिवीज़न में। विद्यार्थी जी ने समझा, मज़ाक है। पर बाद को जब नतीजे का पर्चा दिखाया गया तब उन्हें विश्वास हुआ।

अन्याय और अत्याचार के खिलाफ़ आवाज़ उठाने की मनोवृत्ति उनमें बचपन से ही थी। छोटी-से-छोटी बात में भी मानव-चरित्र की महानता की परख होती है और उसी से पता चल जाता है कि मनुष्य किस धातु का बना हुआ है, वह दुनिया में क्या कर सकेगा। अगर किसी मनुष्य के भविष्य को जानना हो तो उसकी बचपन की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति को ध्यान पूर्वक देखिये, आपको झट पता लग जायगा कि यह व्यक्ति इस रुचि का है और इसका भावी जीवन इस प्रकार का होगा। उन दिनों पोस्टकार्ड का टिकट (स्टाम्प) काट कर किसी कागज़ या सादे कार्ड पर लगा कर भेजना कानूनन जायज था। पर एक बार इसी प्रकार के एक पोस्टकार्ड को पोस्ट आफिस वालों ने बैरंग कर दिया। श्री गणेश-शङ्कर जी को यह बात बुरी लगी। उन्होंने इसका विरोध करने के लिये एक पोस्टकार्ड का स्टाम्प काट कर एक दूसरे कागज़ पर चिपकाया, और अपने नाम पर उसे लेटरबक्स में डाल दिया। पोस्टकार्ड बैरंग हो कर उनके पास आया। पैसा दे कर उन्होंने

पोस्टकार्ड ले लिया, और पोस्ट-मास्टर के यहाँ तुरन्त इसकी शिकायत की। इस सम्बन्ध में खूब लिखा पढ़ी हुई, और अन्त में डाक-विभाग के अधिकारियों को अपनी गलती मंजूर करनी पड़ी तथा उनका पैसा वापस किया गया। यह घटना उस समय की है, जब विद्यार्थी जी निरे विद्यार्थी थे—मिडिल में पढ़ते थे।

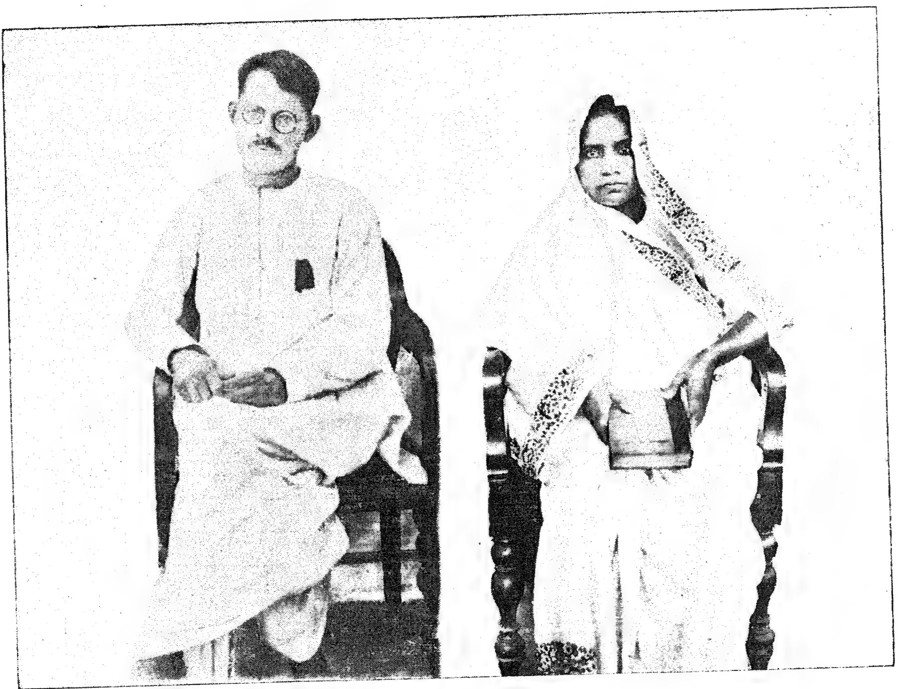
समाचार-पत्र तथा मासिक पत्रिकाएँ पढ़ने का शौक उनको बचपन से ही था। 'भारत-मित्र' और 'बंगवासी' मँगा कर स्वयं पढ़ते तथा अपने साथी लड़कों को सुनाया करते। एण्ट्रेंस पास करने के पहले ही उन्होंने 'सरस्वती' की उस समय तक निकली पूरी फाइल पढ़ डाली थी। पत्रकार-कला की ओर उनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी, और यही कारण था कि जीवन क्षेत्र में प्रवेश करने के थोड़े ही दिनों बाद वे इस लाइन में प्रविष्ट हो गये तथा अपने जीवन का सर्वप्रधान कार्य पत्र-सम्पादन ही रखा। अन्त तक, मरने के समय तक वे पत्रकार रहे और ऐसे पत्रकार रहे, जिसका सानी हिंदी पत्रकारों में कोई दिखाई नहीं पड़ता।

एण्ट्रेंस पास करने के बाद विद्यार्थी जी १९०७ ई० में ही कायस्थ पाठशाला कालेज इलाहाबाद में भर्ती हो गये। पर वहाँ मुश्किल से सात-आठ महीने ही पढ़ पाये होंगे कि आर्थिक कठिनाइयों और गृहस्थी के झंझटों के कारण उन्हें अपना कालेज का पढ़ना बन्द कर देना पड़ा। वे अपना पढ़ना बन्द नहीं करना चाहते थे, अधिक से अधिक विद्या हासिल करने की उनकी बड़ी उत्कण्ठा थी; परन्तु परिस्थितियों के आगे उन्हें सर झुकाना पड़ा। जिस

समय वे इलाहाबाद में पढ़ते थे उसी समय श्री सुन्दरलाल जी के संसर्ग में आए। सुन्दरलाल जी उन दिनों कर्म्मयोगी निकालते थे। विद्यार्थी जी भी उसके संचालन में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करते रहे। पर गार्हस्थिक कठिनाइयों के कारण वे अधिक दिनों तक इलाहाबाद न रह सके। हाँ इस बीच श्री सुन्दरलाल जी से उनका जो स्नेह सम्बन्ध क़ायम हुआ वह जन्म भर निभा। गणेश जी उन दिनों सुन्दरलाल जी को 'मास्टर जी' कहा करते थे। 'तपस्वी' 'कर्मवीर' और 'पंडित' सुन्दरलाल गणेशशंकर जी के लिये सदा 'मास्टर जी' रहे और 'मास्टर जी' के लिये शहीद शिरोमणि विद्यार्थी जी सदा 'गणेश जी' ही बने रहे।

कुछ ही दिनों बाद (४ जून १९०९ ई० को) उनकी शादी हरवंशपुर (इलाहाबाद) के मुंशी विश्वेश्वरदयाल की पौत्री से हुई। उनकी इच्छा अभी शादी करने की नहीं थी, पर घर वालों के दबाव के कारण उन्हें राजी होना पड़ा। विद्यार्थी जी के ससुराल वाले पुराने ख्याल के आदमी थे। वे चाहते थे कि शादी के वक्त नाच आदि भी हो। पर विद्यार्थी जी इसके बहुत ख़िलाफ़ थे। उन्होंने इसका बहुत विरोध किया और बारात के साथ नाचने गाने वालियों को नहीं जाने दिया; परन्तु उधर ससुराल वालों ने खुद ही नाच का प्रबन्ध कर लिया। किन्तु संयोग ऐसा हुआ कि जब तक बारात रही, वहाँ बराबर पानी बरसता रहा, जिसके कारण नाच न हो सका और विद्यार्थी जी की अभिलाषा पूरी हो गई।

पढ़ना छोड़ कर विद्यार्थी जी इलाहाबाद से कानपुर आ गये,



श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रप्रकाश देवी

क्योंकि उनके बड़े भाई साहब यहीं पर थे। सबसे पहले यहाँ पर उन्होंने करेंसी आफिस (जहाँ से रुपये-पैसे आदि सिक्के तथा नोट निकाले जाते हैं) में ६ फरवरी १९०८ से ३०) रु० तनख़ाह पर नौकरी कर ली। करेंसी में वे अपना काम बड़ी सचाई और मेहनत से करते तथा काम ख़तम कर लेने पर अगर कुछ समय मिल जाता, तो बैठे-बैठे पढ़ा करते थे। अपने सद्व्यवहार के कारण आफिस के सभी आदमी उनको बड़े स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनकी शक्ति और परिश्रम पर लोगों को बड़ा आश्चर्य होता था।

एक दफ़ा उन्हें नोट जलाने का काम मिला। वे उसके जलाने का प्रबन्ध कर वहीं किताब ले कर बैठ गये। नोट जलाने की तरफ तो ख्याल था ही, पर साथ ही इधर कुछ पढ़ते भी जाते थे। इतने में करेंसी का अंग्रेज़ आफिसर आया और विद्यार्थी जी से उसने कई प्रश्न पूछे। वे भी उनका माकूल जवाब देते गये। वाद-विवाद के बीच उस अंग्रेज ने कहा—'मैं अपने मातहतों का निरंकुश शासक हूँ।' विद्यार्थी जी से यह बात क्योंकर सही जाती ? उन्होंने २६ नवम्बर १९०९ ई० को इस्तीफ़ा दे दिया और वहाँ से चलते हुए। इसके बाद वे कानपुर ही के पृथ्वीनाथ हाई स्कूल में १ दिसम्बर १९०९ ई० से २०) मासिक पर अध्यापक हो गये। उन दिनों श्री सुन्दरलाल जी के 'कर्मयोगी' की धूम थी। वह बड़ी भयानक चीज़ समझी जाती थी। पर विद्यार्थी जी उसे सदा पढ़ते थे। कभी-कभी स्कूल भी अपने साथ ले जाते। एक दफ़ा स्कूल में छुट्टी

के समय क्लास में बैठे 'कर्मयोगी' पढ़ रहे थे। हेडमास्टर साहब ने आ कर देखा और छुट्टी के समय भी क्लास में उसके पढ़ने पर आपत्ति की। इसी पर कुछ विवाद हो गया और विद्यार्थी जी ने ५ सितम्बर १९१० ई० को यहाँ से भी त्याग-पत्र दे दिया।

इस समय की एक बात उल्लेखनीय है। जिस समय वे इस स्कूल में शिक्षक थे, एक सब-इंस्पेक्टर के लड़के का ट्यूशन भी करते थे। पर वह लड़का अच्छी तरह पढ़ता नहीं था। इसलिये उन्होंने उसके संरक्षक को कहलाया कि आपका लड़का मन लगा कर पढ़ता नहीं है, हम मुफ्त में पैसा लेना नहीं चाहते, हमें छुट्टी दीजिये। सब-इंस्पेक्टर साहब को इनकी नेकनीयती पर आश्चय भी हुआ और खुशी भी। उन्होंने कहा कि जिस शिक्षक के ऐसे खयालात हैं, उसके पास लड़के का बैठे रहना ही काफ़ी है, आप बने रहिये।

इस समय तक उन्होंने लेख लिखना आरम्भ कर दिया था। एक लेख उन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास इन्हीं दिनों भेजा और द्विवेदी जी ने उसे पसन्द कर 'सरस्वती' में प्रकाशित भी कर दिया। एक लेख के छपने के बाद उत्साह बढ़ा और फिर तो उनके कई लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। श्री सुन्दरलाल जी और श्री शान्तिनारायण से परिचय होने के बाद से तो वे इन लोगों के हिन्दी 'कर्मयोगी' और उर्दू 'स्वराज्य' पत्रों के लिये भी टिप्पणियाँ और लेख लिखने लगे। चूंकि स्कूल में उन्होंने उर्दू और फारसी ही खास तौर पर पढ़ी थी, इसलिये उनका लिखना भी पहले उर्दू में

ही शुरू हुआ ; परन्तु हिन्दी की विशेष अभिरुचि ने उन्हें अपनी तरफ खींच लिया और बहुत थोड़े ही दिनों के अन्दर वे हिन्दी के एक अच्छे लेखक हो गये। इसी समय उन्होंने दिल्ली-दरबार के सम्बन्ध में एक बड़ा लेख लिखा, जो कलकत्ते की 'हितवार्ता' में छपा। बात यह थी कि दिल्ली-दरबार के समय बड़ौदा-नरेश ने दरबार की प्रथा के खिलाफ कोई आचरण किया ; परन्तु था वह आत्माभिमान से भरा हुआ। इस पर अख़बार वालों ने बड़ौदा-नरेश की बड़ी आलोचना की। विद्यार्थी जी को अखबार वालों का यह ढंग बड़ा बुरा लगा और इसी के सम्बन्ध में बिलकुल निष्पक्ष-भाव से उन्होंने यह लेख लिखा। लेख में बड़ौदा-नरेश के आत्माभिमान पूर्ण आचरण का समर्थन किया गया था। एक बिलकुल नई बात थी, सभी भौचक्के से रह गये। सब लोग पूरब की ओर चलने को कह रहे थे, उन्होंने पश्चिम दिशा का मार्ग ठीक बतलाया। इस लेख को पढ़ कर लोगों का ध्यान विशेष रूप से उनकी ओर आकृष्ट हुआ।

कानपुर में उन दिनों 'हिन्दू फ्रेण्ड्स एसोसियेशन' नामक एक संस्था थी। उसमें वादविवाद आदि हुआ करते थे। श्री नारायण-प्रसाद अरोड़ा, मुंशी दयानारायण निगम, श्री नारायणप्रसाद निगम, श्री बेनीप्रसाद (अब-डाक्टर), महाशय काशीनाथ, श्री शिवनारायण मिश्र, श्री सूरजप्रसाद मिश्र, आदि उसके मेम्बर थे। विद्यार्थी जी भी उसके मेम्बर हो गये और बहस-मुबाहिसे में भाग लेते रहे। यहीं उनका उपरोक्त सज्जनों से परिचय हुआ।

पृथ्वीनाथ हाई स्कूल से इस्तीफ़ा देने के बाद वे किसी काम की तलाश में थे। महाशय काशीनाथ जी ने इसकी चर्चा आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से—जो उन दिनों जुही (कानपुर) में ही रहते थे—की। सौभाग्य वश द्विवेदी जी को उन दिनों एक सहायक की आवश्यकता थी। श्री गणेशशङ्कर का नाम सुन कर वे बहुत खुश हुए, क्योंकि उनके लेखों से द्विवेदी जी को उनकी प्रतिभा का पता लग चुका था। उन्होंने विद्यार्थी जी को अपने यहाँ रख लिया। विद्यार्थी जी २ नवम्बर १९११ ई० से २५) मासिक पर द्विवेदी जी के पास रह कर 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य में योग देने लगे। पूज्य द्विवेदी जी होनहार और प्रतिभाशाली युवकों के बड़े पारखी हैं। आप सदा ऐसे युवक लेखकों को प्रोत्साहन दे कर आगे बढ़ाते रहे हैं। जब तक आप 'सरस्वती' का सम्पादन करते रहे, ऐसे बहुत से युवकों को आपने अपनी कृपा और प्रोत्साहन का बल दे कर आगे बढ़ाया। विद्यार्थी जी को अगर द्विवेदी जी की शिष्य मण्डली में सर्व प्रधान स्थान दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। गुरु और शिष्य दोनों एक दूसरे पर रीझे हुए थे, एक दूसरे का बहुत ख्याल रखते थे। विद्यार्थी जी में पत्रकार कला की ओर प्राकृतिक अभिरुचि थी ही, साथ ही इतने बड़े अनुभवी और उत्कृष्ट पत्रकार का पथ-प्रदर्शन भी मिल गया। फिर क्या था, विद्यार्थी जी बढ़े और ऐसे बढ़े कि हिन्दी जर्नलिज्म में उन्होंने कमाल कर दिखाया। स्वयं द्विवेदी जी उनके विषय में इस प्रकार लिखते हैं:—

"जब तक मेरे पास रहे, गणेश ने बड़ी मुस्तैदी और बड़े परि-

श्रम से काम किया। रोज दो मील दूर शहर से जुही जाते और शाम को लौटते। उनकी शालीनता, सुजनता, परिश्रम-शीलता और ज्ञानार्जन की सदिच्छा ने मुझे मुग्ध कर लिया। उधर वे मुझे शिक्षक या गुरु मानते थे, इधर मैं स्वयं ही कितनी बातों में उन्हें अपना गुरु समझता था। धीरे धीरे वे मेरे कुटुम्बी से हो गये। कभी स्वप्न में भी किसी भी विषय में, आपसी मत-विरोध या खट-पट नहीं हुई। गणेश मेरे खानगी कामों तक में मेरी मदद करते रहे। हिन्दी लिखना उन्होंने खूब सीखा। मैं चाहता था कि वे कुछ संस्कृत सीख लें। पर उनका झुकाव राजनीतिक शिक्षा ही की ओर अधिक था। अतएव मैंने उन पर दबाव नहीं डाला। उन्हें पढ़ने का बड़ा शौक था। जुही आते-जाते राह में भी कभी कभी वे अखबार या पुस्तक पढ़ते चले जाते थे।

"जब 'सरस्वती' से गणेश की काफी ख्याति हुई, तब 'अभ्युदय' के अधिकारियों ने उन्हें अपने यहाँ खींच लिया। सब प्रबन्ध कर चुकने पर गणेश ने मुझसे जाने की अनुमति माँगी। अनुमति तो मैं देने को बाध्य ही था, दे दी। पर उन्हें मीठी फटकार भी बतलाई। कहा, भैया, मुझसे छिपे-छिपे यह प्रबन्ध क्यों किया? सब बातें पहले ही से कह देते, तो क्या मैं तुम्हें रोक लेता? रोकने का मुझे अधि-कार ही क्या था? मैं तो तुम्हारा शुभेच्छुक हूँ। गणेश पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और वे अपनी भूल पर बहुत पछताये।"

विद्यार्थी जी और द्विवेदी जी एक दूसरे को कितना मानते थे, यह द्विवेदी जी के इन शब्दों से प्रगट हो जायगा—'गणेश को मैंने

सदा अपना छोटा भाई या लड़का समझा। मेरे पास से चले जाने पर भी वे मुझे उसी दृष्टि से देखते रहे, जिस दृष्टि से वे पहले देखते थे। उनका प्रेम उनकी श्रद्धा मुझ पर सदा एक रस बनी रही। तीन महीने तक मैं कानपुर में सख्त बीमार पड़ा रहा। उस दशा में भी उन्होंने मुझे आराम पहुँचाने का काफ़ी यत्न किया। उनके उग्र लेख देख कर मैं कभी कभी काँप उठता था। उन्हें सौम्य बनने की शिक्षा देता था। उत्तर में वे मुझसे ही सुनी हुई ये सतरें सुना देते थे:—

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

जेल से लौटने पर एक बार उनका अस्थिपञ्जर शरीर और बढ़े हुए बाल देख कर मैं रो पड़ा था। वे भी रोये थे।' द्विवेदी जी को विद्यार्थी जी का इतना ख्याल था कि जिन दिनों 'प्रताप' पर राय-बरेली वाला प्रसिद्ध मुकदमा चल रहा था तो वे महाशय काशीनाथ जी और पण्डित बालकृष्ण शर्मा को अपने साथ ले कर सर राजा रामपालसिंह के यहाँ गये थे कि वे बीच में पड़ कर मुकदमे में सुलह करा दें।

विद्यार्थी जी की गुरु भक्ति की भी एक रोचक कहानी है। अपनी शादी के वक्त उनकी उम्र कम ही थी, पर उस समय भी उनके हृदय में अपने बचपन के गुरु का बड़ा ख्याल था। शादी के वक्त माता-पिता लड़कों को ससुराल वालों से धन माँगने की ज़िद करने की सीख दे देते हैं। बिना धन लिये वे शादी की कुछ निश्चित विधियाँ करने देने को तैयार नहीं होते। विद्यार्थी जी से भी ऐसा कहा

गया था ; परन्तु उन्होंने धन या किसी और चीज के लिये वहाँ ज़िद नहीं की। उन्होंने अपने मास्टर साहब (श्री कान्हकुँवर) को भेंट दिलाने की ज़िद की और जब उन्हें ५) तथा एक थान भेंट में मिले, तब माने।

'सरस्वती' साहित्यिक पत्रिका थी और विद्यार्थी जी की रुचि राजनीति प्रधान थी, शायद इसीलिये विद्यार्थी जी 'अभ्युदय' में चले गये। वहाँ उन्होंने २९ दिसम्बर १९१२ से २३ सितम्बर १९-१३ तक काम किया। वेतन ४०) मासिक मिलता था। जिस समय 'अभ्युदय' में गये थे, उसके ग्राहक कम थे और वह घाटे पर चलता था ; परन्तु उनके रहते-रहते ही ग्राहक ड्योढ़े हो गये, और आमदनी बढ़ गई। उनकी लेखनी ने 'अभ्युदय' के पाठकों में जान डाल दी। 'अभ्युदय' में वे अग्रलेख और टिप्पणियाँ भी लिखते थे।

इन्हीं दिनों वे बीमार पड़े और इलाहाबाद से कानपुर आये। बीमारी से उठने पर 'अभ्युदय' में जाने की इच्छा न हुई। पत्रकार कला की ओर शुरू से ही रुझान था ; और स्वतंत्र रूप से वे एक अपना पत्र निकालना चाहते थे। इधर 'सरस्वती' और 'अभ्युदय' में काम कर इस कला का अनुभव भी प्राप्त कर लिया। इस दिशा में आत्मविश्वास और भी बढ़ गया। इस समय तक पं० शिव-नारायण जी मिश्र से उनकी मित्रता बहुत घनिष्ठ हो गई थी। दोनों मित्रों में सलाह मशविरा हुआ और देवोत्थान एकादशी सं० १९-७० (९ नवम्बर १९१३ ई०) को विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' को जन्म दिया। पास में रुपये-पैसे न थे, छापाखाना अथवा दूसरे साधन भी न थे, कोई बड़े सहायक भी न थे। थी उनके पास लोक-

सेवा की सराहनीय भावना, अनोखी लगन, अविचल दृढ़ता, अटूट आत्म विश्वास और ईश्वर का भरोसा; और इन्हीं के बल पर ऐसी विचित्र परिस्थिति में 'प्रताप' का जन्म हुआ।

सन् १९०७ से ले कर १९१३ ई० तक विद्यार्थी जी का जीवन बड़ा ही अस्थिर और संकट पूर्ण रहा। इस बीच वे बराबर इधर उधर डोलते रहे। कभी किसी काम को हाथ में लिया और कभी किसी को; पर यह कोई नई बात न थी। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब कि उसका भाग्य लप-झप करता नज़र आता है। यही उसके भाग्य निर्माण की, जीवन को श्रेष्ठ या निकृष्ट साँचे में ढालने की बेला होती है। अगर उस समय उसने कष्ट-सहिष्णुता, दृढ़ता, धैर्य, अध्यवसाय, आत्माभिमान, आदि से काम लिया और अपने लक्ष्य पर डटा रहा, तब तो वह कसौटी पर खरा उतरता है और उसकी जीवन-दिशा प्रशस्त पथ की ओर मुड़ती है; वरना वह विचलित हो कर विघ्न बाधाओं के भीषण थपेड़ों से घबड़ा कर कुंठित और पथ-भ्रष्ट हो जाता है और अपना जीवन बरबाद कर डालता है। विद्यार्थी जी ने अपनी इस संक्रान्ति काल की संकट पूर्ण स्थिति को सँभाला और खूब सँभाला। फल स्वरूप वह अपने जीवन-क्षेत्र में ऐसे विजयी हुए, जैसे संसार में बहुत कम आदमी होते हैं। जब तक उन्हें अपना मन-चीता काम न मिला, अस्थिरता पूर्वक व्याकुलता के साथ भटकते रहे, पर अपनी रुचि का काम मिलते ही उसको अपना तथा अपने को उसका बना लिया। दुनिया में विजय-प्राप्ति के ये ही लक्षण हैं।



विद्यार्थी जी के गुरुदेव
आचार्य पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी



१७ वर्ष की अवस्था में
श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी

अध्ययन और आत्म-विकास

'सैकड़ों पुस्तकों का ज्ञान दिमाग़ में भरने से उसकी कीमत मिल सकती है, परन्तु उसके प्रमाण में कार्य की कीमत अनेक गुनी अधिक है। दिमाग़ में भरे हुए ज्ञान की कीमत केवल कार्य की कीमत के बराबर ही है। बाकी का सारा ज्ञान दिमाग़ के लिये व्यर्थ का भार रूप है।'

—गान्धी जी

विद्यार्थी जी को विश्वविद्यालय की शिक्षा का लाभ प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला था। हिन्दी का भी ज्ञान उन्हें बाद ही को हुआ। शुरू में उन्होंने उर्दू पढ़ी थी और १९०९—१० ई० तक बराबर उनके हाथ में उर्दू अख़बार ही नज़र आते थे। आत्म विकास के लिये ज्ञान-संचय की आकांक्षा उनके हृदय में इतनी अधिक थी कि निरन्तर स्वाध्याय के कारण उनका ज्ञानभण्डार खूब भरता गया। विद्यार्थी जी शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य को समझते थे और इसलिये जो कुछ पढ़ते, उसी दृष्टि से पढ़ते थे। २२ वर्ष की उम्र से ही वे सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने लगे, और आगे चल कर तो सार्वजनिक कार्य का बोझ उनके ऊपर बहुत ही अधिक पड़ गया था। फिर भी अपने पठन-पाठन से वे कभी भी विमुख न हुए। जिस समय भी फुर्सत मिलती, वे पढ़ने लगते और ऐसा कोई भी समय नहीं होता, जिस समय उनके

हाथ में कोई न कोई पुस्तक न होती। घूमने जाते तो उस समय भी कोई पुस्तक लिये रहते।

उनकी रुचि राजनीति-प्रधान थी, और इसलिये इतिहास तथा राजनीति शास्त्र की पुस्तकें वे बहुत पढ़ते थे। इतिहास से तो बचपन से ही उन्हें विशेष प्रेम था। उनके चरित्र-निर्माण में उनकी इतिहास-रुचि का बहुत असर पड़ा। जब वे एण्ट्रेंस में पढ़ते थे, उनको अंग्रेज कुमारी चारलाट एम० यंग रचित 'बुक आफ गोल्डेन डीड्स' नामक पुस्तक कोर्स में पढ़नी पड़ी थी। वह उन्हें बहुत पसन्द आई। उस पुस्तक से वे बहुत प्रभावित हुए। यहाँ तक कि उसके आधार पर उन्होंने 'हमारी आत्मोत्सर्गता' नामक एक पुस्तक भी लिखी, जिसमें भारतवासियों के आत्मत्याग की ऐतिहासिक कथाओं का संग्रह था। इस पुस्तक की भूमिका से विद्यार्थी जी की किशोरावस्था की साहित्यिक अभिरुचि सम्बन्धी अनेक बातों का पता लगता है। भूमिका क्या है, विद्यार्थी जी की मानसिक विचार-धारा का एक चित्र है। देश-प्रेम का बीज किसी घटना-परिस्थिति की प्रेरणा से उनके हृदय में नहीं आया था। वह तो किशोरावस्था से ही मौजूद था। उनकी उक्त अप्रकाशित पुस्तक की भूमिका पढ़ने से प्रकट होता है कि वह बीज सन् १९०९ में (जब कि उनकी उम्र १८ वर्ष थी) अच्छी तरह अंकुरित हो उठा था। भूमिका में उन्होंने लिखा था:—

"मातृभूमि की सेवा करना हर एक मनुष्य का कर्त्तव्य है। इतिहास का प्रचार देशोद्धार का एक बड़ा उपाय है। मेरा यह

कर्त्तव्य है कि मैं मातृभूमि की सेवा अपने विश्वासानुसार जहाँ तक बने, करूँ।........"

विद्यार्थी जी की किशोरावस्था में भी उनको लेखनी में कितना ओज था, कितनां प्रवाह था और कैसी भावना थी, इसका पता उनकी उसी पुस्तक की इन पंक्तियों से लगेगा:—

"प्राचीन कथाओं को ही सुन कर हिन्दूपति महाराणा प्रताप स्वतंत्रता देवी के स्वतंत्र आराधक हुए थे-महाभारत और रामायण की कथाओं ही ने परतंत्र पिता के परतंत्र पुत्र शिवाजी को महाराष्ट्र का छत्रपति राजा बनाया था। दूर क्यों जाइये, हमारे देश में बरसात के दिनों में देहाती आल्हा गाते हैं; गाते समय उनके जोश, उनके कहने का ढंग, उनके अंग-अंग से वीरता का दर्शना—इत्यादि देखने के योग्य होते हैं! सारांश यह कि इतिहास सोते हुए मनुष्य को जगा सकता है, जागे हुये को पैरों पर खड़ा कर सकता है और खड़े हुये की नसों में खून दौड़ा सकता है। मुरदे को जिन्दा करना, सूखे को हरा करना या तो अमृत (यदि अमृत कोई वस्तु है तो) का काम है या फिर इतिहास का। इतिहास के लाभों को न मानना हठधर्मी है.........."

परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि विद्यार्थी जी को साहित्य से प्रेम न था और साहित्यिक पुस्तकें न पढ़ते थे। उन्हें साहित्य में भी बहुत रस मिलता था और साहित्यिक पुस्तकों को भी बड़ी रुचि के साथ पढ़ते थे। और तो और ४० वर्ष की उम्र में—स्वर्गवास के तीन चार मास पहले—जब कि वे हरदोई जेल में थे,

उन्होंने बर्नर्ड शा, अपटन सिन्क्लेयर आदि विदेशी लेखकों की अनेक पुस्तकें तथा श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'प्रियप्रवास' नामक ग्रन्थ मंगा कर पढ़ा था। जेल में उन्होंने खूब अध्ययन किया। सैकड़ों पुस्तक पढ़ डालीं। हरदोई जेल से आई हुई सब चिट्ठियों में मैंने देखा कि हर दफे १०—१५ पुस्तकें भेजने और लौटाने की बात लिखी रहती थी। शेली, स्टुअर्ट मिल, स्पेंसर, रूसो, मोपासाँ, रस्किन, कारलाइल, टालस्टाय, थोरो, शेक्सपियर, टेर्नसन, ब्राउनिंग, अप्टन सिन्क्लेयर, बर्नर्ड शा, अनातोले फ्रांस, बालजक, एच० जी० वेल्स आदि विदेश के सभी प्रमुख राजनैतिक और साहित्यिक लेखकों की पुस्तकें उन्होंने पढ़ी थीं, और जो नई निकलती थीं, मँगाकर पढ़ते रहते थे। विदेशी लेखकों में विक्टर ह्यूगो पर तो वे फिदा थे। उसकी तारीफ करते कभी अघाते न थे। उसका 'ला मिज़राब्लस' तो उन्हें बहुत ही प्रिय था। यह उपन्यास संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में माना जाता है। जो भीषण ज्वाला, जो असह्य व्याकुलता, जो विद्रोही भावनाएँ, जो लबालब करुणा, जो अनोखी सजीवता उसके पृष्ठों में अंकित है, उसे महसूस करने वाले कितने हैं? पर विद्यार्थी जी पर इन भावनाओं का बहुत असर था। विक्टर ह्यूगो की इस रचना और विद्यार्थी जी की विचारधारा और कार्य-शैली में बड़ा सादृश्य था। इसीलिये वे उस पर बहुत अधिक मुग्ध थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि इस महान लेखक की सभी कृतियों का हिन्दी अनुवाद हो, जिससे हिन्दी भाषा भाषी जनता भी उन अनमोल विचारों से

लाभ उठा सके। पर विक्टर ह्यूगो का अनुवाद साधारण आदमी नहीं कर सकता। उसके अनुवादक की लेखनी में उतनी ही आग, वैसी ही करुणा, उतनी ही वेदना और वैसी ही सजीवता होनी चाहिये। विद्यार्थी जी की लेखनी इन बातों से परिप्लावित थी। परन्तु इस बहुधन्धी लेखक के पास समय का बड़ा अभाव था, इस कारण यह काम शीघ्र न हो सका। १९२१—२२ ई० में जब वे लखनऊ जिला और सेण्ट्रल जेल में थे, तब उन्होंने विक्टर ह्यूगो की 'नाइण्टी थ्री' नामक पुस्तक का 'बलिदान' * नाम से भावानुवाद किया। पर 'ला मिजराबल्स' का अनुवाद जब तक अन्तिम बार जेल नहीं गये, तब तक नहीं हो सका। कई दफे उन्होंने उसका अनुवाद शुरू किया, पर अधिक अवकाश न मिलने से वह पूरा नहीं हो सका। अन्त में, १९३० ई० में जब वे सत्याग्रह आन्दोलन के सिलसिले में हरदोई जेल के अधिवासी हुए, तो यहीं पर उसका पूरा अनुवाद किया। इसका नाम उन्होंने 'आहुति' † रखा है। 'त्याग' 'कुर्बानी' 'बलिदान' और 'आहुति' की भावना उन की नस नस में घर कर चुकी थी और उनकी मनोवृत्ति सदा उसी दिशा में चक्कर लगाया करती थी। बराबर बलिदान ही बलिदान उन्हें सूझता और सदा उसी के अनुसार आचरण भी होते थे। शायद इसी भावना ने उन्हें उत्प्रेरित कर

* यह पुस्तक उस समय प्रकाशित हो गई थी। इस समय भी प्रकाश पुस्तकालय कानपुर से १॥) में मिल सकती है।

† यह पुस्तक शीघ्र ही 'प्रताप' प्रेस से निकलने वाली है।

उनसे, उनकी पहली पुस्तक का नाम 'बलिदान' और दूसरी का नाम 'आहुति' रखवाया। सारा जीवन त्याग और बलिदानमय रहा, पुस्तकों का नाम भी ऐसा ही रखा और अन्त में उसी भावना और मार्ग के पथिक बन कर अपना भी बलिदान कर दिया। बहुत कम लोगों के जीवन में ऐसा सामंजस्य होता है!

मौलिक पुस्तक लिखने की चर्चा करने पर वे कहते थे कि संसार में इतने बड़े लोगों की इतनी अच्छी अच्छी पुस्तकें हैं कि अपनी मौलिक कृति भेट करने की अपेक्षा उनके अनुवाद को लोगों के सामने रखना अधिक अच्छा है।

अपने देश के भी प्रायः सभी उत्कृष्ट लेखकों, विद्वानों और राजनीतिज्ञों के ग्रन्थ उन्होंने खूब पढ़े थे। दादाभाई नौरोजी, फीरोज शाह मेहता, गोखले, तिलक, गान्धी आदि राजनैतिक लेखक और रवीन्द्रनाथ, सूर, तुलसी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्यिक लेखक उनके विशेष प्रेम-पात्र रहे। गीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त ने उन पर बड़ा असर डाला था। महाभारत और बाल्मीकि रामायण भी उन्हें बड़े प्रिय थे और इनके हिन्दी में अच्छे अनुवाद की आवश्यकता की बराबर चर्चा करते थे। साहित्यिक दृष्टि से वे तुलसीदास के बड़े प्रशंसक थे। तुलसीदास जी ने रामायण में पुराने ढंग के जो सामाजिक सिद्धान्त लिखे हैं, वे उन्हें पसन्द न थे। पर उनका कहना था कि जो कोई हिन्दी लिखना चाहे, उसे रामायण का अच्छी तरह परिशीलन करना चाहिये।

स्वयं तो वे रामायण का नौ दफे पारायण कर गये थे। जिस समय वे गर्भ में थे, उस समय उनकी माता प्रायः तुलसी कृत रामायण पढ़ा करती थीं। संभव है, उसका संस्कार उन पर पड़ा हो और इसलिये भी रामायण उनको अधिक पसन्द हो। परन्तु हिन्दी के इन सभी कवियों की अपेक्षा कबीर उनके अधिक प्रेम-पात्र थे और उनकी रहस्यमयी छायावाद मिश्रित कविताओं में विद्यार्थी जी को बड़ा रस मिलता था। उनको विद्याभिरुचि सराहनीय थी और उनके उस दुबले पतले शरीर में बहुत ज्ञान, अनेक अनुभव भरे थे। उनके पास बैठने मात्र से उनसे आदमी बहुत कुछ सीख सकता था।

विद्यार्थी जी अपने नाम के साथ 'विद्यार्थी' क्यों लिखते थे, इसका रहस्य भी यहाँ बतला देना अप्रासंगिक न होगा। उनका विचार था कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन भर विद्यार्थी ही है, साधक है। जिन्दगी भर वह कुछ न कुछ बराबर सीखता ही रहता है, फिर भी उसके ज्ञान का भण्डार पूरा नहीं होता। संसार उसकी सुविशाल पाठशाला है और वह उसका एक तुच्छ शिक्षार्थी। इस सुविशाल पाठशाला में आजीवन शिक्षा लाभ करते रहने पर भी मनुष्य का ज्ञान भाण्डार परिपूर्ण नहीं होता, वास्तव में वह आचार्य नहीं हो पाता। विद्यार्थी ही बना रहता है। इसी विचार को ध्यान में रख कर विद्यार्थी जी अपने नाम के साथ आजीवन 'विद्यार्थी' शब्द लिखते रहे। विद्यार्थी शब्द के इस महान अर्थ को समझने और उसके अनुसार आचरण करने वाले विद्यार्थी जी पहले व्यक्ति थे। अब तो देश में बहुत से 'विद्यार्थी' हो गये हैं।

राजनैतिक जीवन

"हमारे नेताओं में साहस, धैर्य, निर्भयता और इन सब से भी बढ़ कर आत्म-त्याग की भावना होनी चाहिये।……मेरी दृढ़ धारणा है कि कोई मनुष्य उस समय तक बड़े काम अथवा राष्ट्रोन्नति करने में समर्थ नहीं हो सकता, जब तक उसके आचरण सच्चे न हों और उसके वचनों का मूल्य न हो।"

—गान्धी जी

'स्वाधीनता प्रत्येक देश का नैसर्गिक अधिकार है। किसी देश को किसी दूसरे देश पर शासन करने या उसके भाग्य-निर्णायक होने का कोई अधिकार नहीं है। अनेक ठोकरें खा चुकने और निराश हो जाने के पश्चात्, भारतवर्ष अपने नैसर्गिक अधिकार से परिचय प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ा है। वह आज़ादी का तलबगार इसलिये नहीं है कि उसे अंग्रेजों से कोई द्वेष है। अंग्रेज़ देवता भी हों, तो भी भारतवर्ष अपने ऊपर उनके शासन को अब उचित और अच्छा नहीं कह सकता। हम में हीनता के जो भाव भरे थे, जिनके कारण अंग्रेजों को अपने से अधिक बली मान कर उन पर क्रोध करते, अब भारतवर्ष ने उन भावों से नमस्कार कर लिया और वह अब किसी हीनता के कारण किसी से द्वेष नहीं करता। अपने अधिकार से अपना अधिकार चाहता है। यदि अंग्रेज हमारी इस बात से बुरा मानते हैं तो यह उनकी हीनता है।'

"देश में जो सुषुप्ति थी, वह मिट गई। जागरण के युग का उदय हो गया है, और भली भाँति उदय हो गया है। और जब देश के ३२ करोड़ बच्चे जाग चुके हैं, वे अपने नैसर्गिक अधिकारों को जान चुके हैं, तब संसार की कोई भी शक्ति उन्हें दबाये और पूर्ण विकास से वंचित नहीं रख सकती। आज वे दबे रहें; किन्तु कल या परसों वे अवश्य उठेंगे, और वह किसी की कृपा से नहीं, किसी के हाथों टुकड़ा पा कर नहीं; किन्तु अपने बल, पौरुष और अधिकार से उठेंगे और अपने स्थान पर, अपनी पृथ्वी से ले कर अपने आकाश तक सिर ऊँचा करके उठेंगे।"

विद्यार्थी जी की उपरोक्त उक्तियों से उनके राजनैतिक विचार की उग्रता और स्पष्टता पर अच्छी तरह प्रकाश पड़ता है। उनका राजनैतिक जीवन उनकी इन्हीं विचारावलियों पर अवलम्बित था। वे इसी के अनुसार सदा कार्य करते रहे।

सन् १९१३ ई० में 'प्रताप' के आविर्भाव के ही साथ विद्यार्थी जी के सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। सार्वजनिक कामों में राजनैतिक बातों की ओर ही उनकी विशेष अभिरुचि थी और इसलिये मुख्यतः राजनैतिक कामों में ही वे भाग लेते थे। २१-२२ साल की उम्र, नया उत्साह, नई उमंग, नया जोश; जो काम हाथ में लेते बड़ी लगन, मेहनत और उत्साहसे करते। गणेश जी प्रारंभ ही से "प्रताप" द्वारा अधिकारियों के अत्याचारों का बड़ा जोरदार विरोध करने लगे और इस कारण उस समय से ही सरकार की उनके ऊपर वक्र दृष्टि रहने लगी। उन दिनों महाशय काशीनाथ जी, श्री सूरज प्रसाद मिश्र, डा०

मुरारीलाल, श्री नारायण प्रसाद निगम, श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा आदि सज्जन कानपुर के सार्वजनिक कार्यों में थोड़ा बहुत भाग लेते थे। विद्यार्थी जी ने धीरे-धीरे इन लोगों से परिचय प्राप्त कर अपना क़दम आगे बढ़ाया। शुरू में विद्यार्थी जी लोकमान्य तिलक को अपना राजनैतिक गुरु मानते और उन्हीं के पद-चिन्हों पर चलते थे। लोकमान्य तिलक पर उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उनके कमरे में उनकी मेज के ऊपर आज भी लोकमान्य तिलक की वह छोटी सी तस्वीर लटक रही है, जो अपने स्वर्गवास के कई साल पहले से उन्होंने लटका रखी थी। बाद को उन पर गान्धी जी की छाप पड़ी और फिर वे लोकमान्य के भक्त होने के साथ ही गान्धी जी के अनुयायी भी हो गये।

लखनऊ कांग्रेस (१९१६) के बाद महात्मा गान्धी कानपुर आये और विद्यार्थी जी के शिकायत करने पर उन्होंने डा० मुरारीलाल से राजनैतिक कामों में दिलचस्पी लेने तथा नौजवानों को प्रोत्साहित करने को कहा। इसके बाद डाक्टर साहब राजनैतिक कार्यों में कुछ अधिक भाग लेने लगे और उनके साथ विद्यार्थी जी भी। 'प्रताप' निकल ही रहा था, विद्यार्थी जी ने उसके द्वारा युक्त प्रान्त में राजनैतिक जागरण का बीज बोना शुरू कर दिया। १९१७-१८ ई० में श्रीमती ऐनी बिसेण्ट का होमरूल आन्दोलन चला। विद्यार्थी जी ने उसमें खूब दिलचस्पी से काम किया। इन्हीं दिनों कानपुर की मिलों के लगभग २५ हज़ार मजदूरों ने हड़ताल कर दी, उन पर गोलियाँ तक चलीं। उस समय विद्यार्थी जी मजदूरों की तरफ़

से खूब लड़े। उन्होंने अधिकारियों और मिल मालिकों की ज्यादतियों का घोर विरोध किया। इस बार के काम से उनकी प्रतिष्ठा और ख्याति बहुत बढ़ गई; साथ ही कार्यक्षेत्र भी बढ़ने लगा। एक तरफ उनकी व्यक्तिगत रूप से की जाने वाली सेवा और दूसरी तरफ 'प्रताप' के द्वारा प्रान्त भर में अनवरत रूप से किया जाने वाला सराहनीय काम। 'प्रताप' की कीर्त्ति प्रान्त भर में फैली और प्रान्त भर के लोग गणेश जी की तरफ आकृष्ट होने लगे। १९२० ई० में उन्होंने 'प्रताप' का दैनिक संस्करण तथा मासिक 'प्रभा' का प्रकाशन भी शुरू किया। इस बेजोड़ राजनैतिक पत्र तथा पत्रिका ने विद्यार्थी जी की प्रतिष्ठा राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में और भी बढ़ा दी। १९२० ई० का ज़माना था, प्रान्त भर के—खास कर अवध के—किसानों में तालुकेदारों और जमींदारों के अत्याचारों के कारण तहलका मचा हुआ था। इसी बीच रायबरेली जिले के गोली-काण्ड में किसान सूखे चने की तरह भून डाले गये। विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' द्वारा इन अत्याचारों का बड़ा ज़बर्दस्त विरोध किया। फल स्वरूप विद्यार्थी जी तथा पंडित शिवनारायण मिश्र पर मान-हानि का अभियोग चलाया गया। दफा ५०० का ('प्रताप' बीरपाल केस) मुकदमा चला और ऐसा चला कि प्रान्त भर में विद्यार्थी जी की और 'प्रताप' की धूम मच गई। 'प्रताप' ने किसानों के पक्ष-समर्थन का काम जारी रखा। उन दिनों रायबरेली के मुंशीगंज स्थान के अलावा फुर्सतगंज, कढ़ैयाबाज़ार आदि स्थानों में खूब गोलियाँ चली थीं।

'प्रताप' ने इन हत्याकाण्डों का ऐसा ज़ोरदार विरोध किया कि सर हारफोर्ट बटलर तक के आसन डोल गये। सरकार की ओर से विद्यार्थी जी पर तथा पं० शिवनारायण जी पर दफा १०८ के अनुसार मुक़दमा चलाया गया और १५-१५ हजार के जमानत मुचलके माँगे गये। इसी सम्बन्ध में गणेश जी जेल गये। अब तक विद्यार्थी जी जेल से बाहर रह कर ही अपने त्याग, सच्चाई और तपस्या से लोगों को मोहित कर रहे थे; अब उन्होंने जेल में प्रवेश कर अपने त्याग, सच्चाई और तपस्या पर मानो मुहर लगा दी। १९२२ ई० के मई महीने में वे जेल से निकले। शरीर एकदम कमजोर और स्वास्थ्य चौपट हो गया था, फिर भी बाहर निकलते ही पूर्ववत् सब काम करने लगे। जेल से निकले साल भर भी न हुआ था कि इसी बीच फतेहपुर की जिला कानफरेंस के भाषण के लिये साल भर के लिये फिर जेल में बन्द कर दिये गये। इस दफे जेल जाने के पूर्व उनके स्वास्थ्य को देख कर अनेक मित्रों ने उन पर माफी माँग लेने के लिये दबाव डाला; पर विद्यार्थी जी ऐसे कच्चे लोहे के न थे। वे टस-से-मस न हुए और अपनी उसी सूखी ठठरी को लिये हँसते हुए जेल चले गये। जेल जाने के पूर्व विद्यार्थी जी ने माफी के खिलाफ अपने विचार अपनी धर्मपत्नी से प्रगट किये थे। बाद को जब विद्यार्थी जी कहीं बाहर थे उनकी पत्नी ने उनको बधाई देते हुए लिखा—"मैं कर्त्तव्य करते हुए तुम्हारी मृत्यु भी पसन्द करूँगी और इस निश्चय के लिये तुम्हें बधाई देती हूँ।" प्रत्युत्तर में निम्नलिखित पत्र विद्यार्थी जी ने अपनी धर्मपत्नी के नाम लिखा था:—

"कल तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ। तुम ने जो कुछ लिखा है वह बिलकुल ठीक है। माफी माँगने से अच्छा यह है कि मौत हो जाय। तुम विश्वास रखो कि मैं बेइज्ज़ती का काम नहीं करूँगा। तुमने जो साहस दिलाया उस से मेरे जी को बहुत बल मिला। मुझे तुम्हारी और बच्चों की बहुत चिन्ता है। परन्तु तुम्हारा हृदय जितना अच्छा और ऊँचा है इस से मेरे मन को बहुत संतोष हो रहा है। ईश्वर तुम्हारे मन को दृढ़ रखे। अगर तुम दृढ़ रहोगी तो मेरा मन कभी न डिगेगा। मैं तुम से कोई बात छिपाना नहीं चाहता।

मैं खुशी से तैयार हूँ। जो मुसीबतें आयेंगी मैं उन्हें हँसते हँसते झेल लूँगा। लेकिन मेरी हिम्मत को क़ायम रखने के लिये यह आवश्यक है कि तुम अपना जी न गिरने दो। हाँ, माखनलाल जी के साथ मैं उनके घर जा रहा हूँ। होली वहीं करूँगा। होली के बाद दूज या तीज को मैं कानपुर पहुँचूँगा और उसी दिन दो-पहर तक मैं अपने को पुलिस के हाथों में दूंगा। मैं सीधे ही पुलिस के हाथों में अपने को दे देता; मगर एक बार तुम लोगों को देख लेना धर्म समझता हूँ। देखो, ईश्वर और धर्म पर विश्वास रखो। आज कष्ट के दिन सिर पर हैं, कल सुख के दिन भी आवेंगे। धर्म के लिये सहे जाने वाले कष्ट के दिनों के बाद जो दिन आवेंगे, वे परमात्मा की कृपा से अच्छे सुख के दिन होंगे।

हरि, कृष्णा, विमला और ओंकार को प्यार।

तुम्हारा—गणेशशंकर"

जनवरी १९२४ में विद्यार्थी जी जेल से निकले। इसके बाद उनके राजनैतिक कार्य का क्षेत्र बहुत बढ़ गया और न केवल युक्त-प्रान्त में ही बल्कि बिहार, बंगाल, पंजाब, मध्यप्रदेश, मध्यभारत आदि प्रान्तों में भी उनकी देश भक्ति और सेवा की प्रशंसा होने लगी। युक्त प्रान्त के तो वे सर्वमान्य नेता होगये। १९२५ ई० में अखिल भारतीय काँग्रेस का चालीसवां अधिवेशन कानपुर में ही हुआ था। उस अधिवेशन की स्वागत कारिणी समिति के प्रधान मंत्री विद्यार्थी जी ही थे। काँग्रेस की सफलता के लिये उन दिनों दिन और रात, बिना खाये पिये, बिना नहाये धोये, अपने स्वाथ्य और आराम का कुछ भी ख्याल न करते हुये काम करने में जिस प्रकार मैंने उन्हें व्यस्त देखा, मैं तो दंग रह गया। जितनी बड़ी जिम्मे-दारी का काम था, उतनी ही लगन, मेहनत और बहादुरी से उसे अदा करके उन्होंने लोगों को मुग्ध कर लिया। काँग्रेस-अधिवेशनों के आज तक के इतिहास में कानपुर जैसा सुन्दर प्रबन्ध दो ही एक दफे और हुआ है। इस श्रेष्ठता और सफलता का सारा श्रेय विद्यार्थी जी तथा उनके चुने हुए अनुयायियों को ही है। इच्छा न होते हुए भी, सिर्फ कांग्रेस का आदेश मान कर वे तीन साल तक (१९२६ से १९२९ तक) युक्त प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर भी रहे, और जिस समय काँग्रेस ने कौंसिल छोड़ने का आदेश दिया उस समय यू० पी० कौंसिल के स्वराजी मेम्बरों में वे ही थे, जिन्होंने सबसे पहले इस्तीफा दिया था। कौंसिल के कृत्रिम वाता-वरण और व्यर्थ के अभिनय दृश्य की वे बराबर खूब हँसी उड़ाते

थे। कौंसिलों में प्रजा-प्रतिनिधित्व और उत्तरदायी शासन प्रणाली का जो स्वाँग रचा जाता था, उसे देख कर वे अक्सर चिढ़ उठते थे। पर क्या करते ? अपनी परवशता को सोच कर मन मसोस कर रह जाते थे।

१९२९ ई० में फर्रुखाबाद में युक्त प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन का अधिवेशन विद्यार्थी जी के ही सभापतित्व में हुआ था। सम्मेलन के कुछ दिनों बाद प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारियों का जो चुनाव हुआ, उसमें आगामी साल के लिये विद्यार्थी जी ही प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गये। उनकी अध्यक्षता के समय में ही १९३० का संसार-विख्यात सत्याग्रह का आन्दोलन आरम्भ हुआ और वे युक्त प्रान्त के प्रथम डिक्टेटर (अधिनायक) नियुक्त हुये। जब तक वे जेल से बाहर रहे, प्रान्त भर के सत्याग्रह का बड़ी खूबी और मेहनत के साथ संचालन किया। पर उस समय डिक्टेटरों का शासन काल चलता ही कितने दिन था ? विद्यार्थी जी भी पकड़ कर साल भर के लिये हरदोई जेल में बन्द कर दिये गये ; और पूरी सजा भुगत कर निकलने में जब सिर्फ छः दिन बाकी थे वे गान्धी-इरविन समझौते के अनुसार रिहा कर दिये गये।

विद्यार्थी जी ने १९२२ से १९३१ ई० तक बहुत ही अधिक परिमाण में राजनैतिक कार्य किया। उनके इन तीस वर्षों के राजनैतिक कार्यों ने उन्हें बहुत ऊँचा उठा दिया था। वे प्रान्त के अध्यक्ष थे, इसका जिक्र तो हो ही चुका है, इसके साथ ही पिछले कई वर्षों से

बराबर प्रान्तीय कार्य समिति, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी तथा अखिल-भारतीय काँग्रेस कमेटी के मेम्बर भी निर्वाचित होते रहे थे। कानपुर की नगर काँग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी के मेम्बर तो बराबर वे रहे ही, कई साल तक मंत्री भी रहे। व्यक्तिगत रूप से ही काँग्रेस का काम कर के वे सन्तुष्ट नहीं होते, बल्कि सदा अनेक कार्यकर्त्ता तैयार कर उन्हें काम में लगाये रहते। उनका यह कहना बिलकुल ठीक था कि स्वयं काम करने की अपेक्षा दूसरों से काम लेना बड़ा कठिन है। किन्तु वे तो स्वयं करने के साथ ही दूसरों से भी उसकी शक्ति और रुचि को परख कर उसके अनुसार काम लेने के आदी हो गये थे। जिसको जिस लायक देखा, पीठ पर थपकी दी, उत्साहित किया और उसमें भिड़ा दिया।

विद्यार्थी जी के स्वर्गवास के बाद एक दिन एक मित्र से विद्यार्थी जी के सम्बन्ध में बातें होने लगीं। उन्होंने कहा कि औरों ने चाहे जो सबक लिया हो, पर मैंने विद्यार्थी जी के जीवन से दो बातों की शिक्षा ग्रहण की है—एक तो दूसरों के उपकार के लिये सदा तत्पर रहना और दूसरी—अपने सहकारियों तथा मातहतों के आगे बढ़ने में ज़रा भी बाधा न देना। ये दोनों बातें सदा विद्यार्थी जी के जीवन में चरितार्थ हुईं। आजकल प्रायः यह देखा जाता है कि हमारे नेता अपना नेतृत्व कायम रखने के लिये, अपने को आगे बढ़ाने के लिये, अवांछनीय ढंगों से काम लेते और अपने सहकारियों के आगे बढ़ने में भी बाधा डालते हैं। विद्यार्थी जी के जीवन में कभी यह बात न देखी गई। ऐसे भी मौके आये जब कि



४०वीं कांग्रेस कानपुर की स्वागत समिति के प्रधान मन्त्री
श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी



विद्यार्थी जी के ज्येष्ठ पुत्र
श्री हरि शङ्कर विद्यार्थी

विद्यार्थी जी द्वारा ही बढ़ाये गये, उन्हीं के प्रोत्साहन से जनता की निगाह में प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए व्यक्तियों तक ने विद्यार्थी जी के खिलाफ़ बड़े निन्दनीय काम किये, पर विद्यार्थी जी ने इस अवस्था में भी उनके साथ ऐसा व्यवहार किया कि उन्हें अन्त में अपने व्यवहार पर लज्जित होना पड़ा और उनसे अपने कपटी व्यवहार के लिये क्षमा माँगनी पड़ी। अगर कभी वे झुँझलाते और किसी पर क्रोध करते थे तो उनके पिघलते भी देर नहीं लगती थी। सहृदयता, उदारता और दयालुता की तो वे खान थे।

अपने सहकारियों और कार्यकर्त्ताओं से काम लेना वे खूब जानते थे। पर जिस प्रकार वे उनसे खूब काम लेना जानते थे, उसी प्रकार उनकी तकलीफों का भी काफी ख्याल रखते थे। कौन कार्यकर्त्ता बेकार है, कौन सी जगह खाली है, यह बात सदा उनके दिमाग में रहती और मौका देख कर जहाँ जिसके लायक काम समझते वहाँ उसे भेज देते थे। इसके नमूने में विद्यार्थी जी का पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम १४ अप्रैल १९२७ का लिखा हुआ एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

कानपुर
१४—४—२७

प्रिय चतुर्वेदी जी, वन्दे !

आप प्रयाग के मेजर बसु और उनके पाणिनि आफिस को अवश्य जानते होंगे। मेजर साहब के पास दस-बारह हजार पुस्तकें हैं। वे Indian Academy (इण्डियन एकेडेमी)

नाम की एक संस्था बनाना चाहते हैं, जहाँ कुछ विद्वान बैठ कर भारतीय इतिहास के रिसर्च (खोज) का काम करें। मेजर साहब के पास इस काम के लिये बहुत मसाला है। वे अपनी किताबें, कुछ ज़मीन और कुछ रुपया देना चाहते हैं, और चाहते हैं यह कि कोई सत्पात्र इस काम को उठा लेवे, और कई सज्जनों की एक कमेटी बन जाय, जो आवश्यक फ़ण्ड (कोष) * का प्रबन्ध कर ले। सुन्दरलाल जी की तथा मेरी दृष्टि आप पर पड़ी। क्या आप प्रयाग में रह कर इस काम को आगे बढ़ा सकते हैं ? फ़ण्ड की कमी न रहेगी, यदि कोई एक आदमी भी जुटने वाला मिल जाय। मेजर बूढ़े आदमी हैं। वे कुछ लिखने का काम कर और करा सकते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं। यदि आपको सुविधा हो, तो आप इलाहाबाद जा कर मेजर बसु और सुन्दरलाल जी से मिल लीजिये। इसमें जो खर्च होगा, मैं दूँगा। उत्तर शीघ्र दीजिये। आशा है, आप सानन्द हैं।

आपका—

ग० श० विद्यार्थी

देश के राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं की जो आर्थिक दुर्दशा होती है, उसे सब लोग अच्छी तरह जानते हैं। बेचारे जब तक बाहर रहते हैं, घर-बार, स्त्री-पुत्र, सब का सुख छोड़ देश-कार्य में पिसते रहते हैं। उस समय तो किसी-न-किसी प्रकार उनके परिवार का भरण-पोषण हो ही जाता है, किन्तु उनके जेल जाते ही उनके

* कोष्ठक के शब्द मेरे लिखे हैं। — लेखक।

घर वालों को कोई पूछने वाला भी नहीं मिलता ; बेचारे बच्चे, स्त्रियाँ और दूसरे आश्रित लोग दाने-दाने को तरसने लगते हैं। विद्यार्थी जी को यह स्थिति बहुत अखरती थी। यों तो ऐसे परिवारों की जो कुछ मदद वे कर सकते थे, बराबर करते रहते थे ; परन्तु उनका विचार था कि प्रान्त में एक ऐसी अच्छी संस्था कायम हो जाय, जो बराबर ऐसे परिवारों को मदद देती रहे। इसी उद्देश्य से बहुत चेष्टा कर के श्री मोहनलाल जी सक्सेना के सहयोग से १९३० ई० में उन्होंने "युक्तप्रान्तीय राजनैतिक कार्यकर्त्ता परिवार सहायक संघ" नामक संस्था स्थापित की। पं० मोतीलाल नेहरू उसके सभापति और विद्यार्थी जी मन्त्री थे।

जेल जीवन की झलक

'इस राज्य में देश-भक्तों के लिये दो ही उपयुक्त स्थान हैं — जेल या फाँसी का तख्ता !'

— गांधी जी

एक दो दफे जेल जा कर ही लोग अपने को बड़ा देश-भक्त समझने लगते हैं। १९३० ई० के सत्याग्रह आन्दोलन में ७०-७५ हजार आदमी जेल गये। उन्हें अपनी देश-भक्ति और त्याग का बड़ा नाज़ है ; परन्तु देश-भक्त गणेशशङ्कर विद्यार्थी ने ५ दफे जेल-यातनाएँ सही थीं और फिर भी घमंड छू तक नहीं गया था। पहली दफ़े रायबरेली के किसानों पर जो गोलीकाण्ड हुआ था, उस सम्बन्ध में 'प्रताप' में लेख लिखने के लिये वे जेल गए थे, पर मित्रों ने उन्हें जमानत पर छुड़ा लिया और उस समय वे सिर्फ़ एक घंटा ही जेल में रहे। उनकी दूसरी जेल-यात्रा दफा १०८ के अभि-योग में हुई थी। साल भर के लिये नेकचलनी के नाम पर उनसे पन्द्रह हज़ार रुपये की जमानतें तथा मुचलके मांगे गये थे। उन्हीं दिनों 'प्रताप' का रायबरेली-मानहानि का प्रसिद्ध मुकदमा चल रहा था, इसलिये उसे सँभालने की गरज़ से पहले तो उन्होंने जमानत दे दी, पर मुकदमे से फ़ुर्सत पाते ही जमानत तोड़ कर १६ अक्टूबर १९२१ को खुद ही जा कर मजिस्ट्रेट

के यहाँ उपस्थित हो गये। उन्हीं दिनों रायबरेली वाले मुकदमे की 'प्रताप' की अपील चीफ कोर्ट से खारिज कर दी गई तथा नीचे की अदालत की तीन महीने की उनकी सजा बहाल रही; पर वह अलग न चल कर १०८ वाली सजा के साथ ही चली। इसलिये दोनों सजाएँ एक साथ ही काट कर वे २२ मई १९२२ ई० को लखनऊ ज़िला जेल से मुक्त हुए। गिरफ्तारी के १० दिनों बाद तक वे कानपुर के ही ज़िला जेल में रखे गये, पर बाद को लखनऊ सेण्ट्रल जेल और वहाँ से २६ दिसम्बर को लखनऊ ज़िला जेल में भेज दिये गये। असहयोग का जमाना था। देश भर में दमन का दौरदौरा था, धड़ाधड़ गिरफ्तार कर के लोग जेलों में बन्द किये जा रहे थे। युक्त प्रान्त के खास-खास कैदियों के लिये लखनऊ का ज़िला जेल ही चुना गया था। विद्यार्थी जी भी स्पेशल क्लास (विशेष श्रेणी) के कैदी थे। इसलिए वे वहीं पहुँचाये गये। प्रान्त के सभी बड़े आदमी—पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, आचार्य कृपलानी, डा० मुरारीलाल, डा० जवाहरलाल, श्री मोहनलाल सक्सेना, पं० कृष्णकान्त मालवीय, चौ० खलीकुज्जमा आदि-आदि वहीं थे। जेल क्या था, नेताओं का एक खासा जमघट था। पर फिर भी वह जेल ही था, और अधिकारियों से प्रायः चखचख हुआ करती थी। विरोधी दल (सत्याग्रहियों) के प्रमुख व्यक्तियों में विद्यार्थी जी सबसे आगे रहते और अधिकारियों को उनकी लापर्वाही, अत्याचार और झूठी बातों के लिये खूब खरी खरी सुनाते। स्पेशल क्लास के कैदी

होते हुए भी, जेल की तकलीफों और अस्वास्थ्यकर भोजन के कारण विद्यार्थी जी का स्वास्थ्य कभी वहाँ अच्छा नहीं रहा और एक-न-एक शिकायत बराबर बनी ही रही। इस अवस्था में भी वे जेल में बराबर पढ़ते रहते और अपनी लम्बी-लम्बी स्कीमें सोचा करते थे। इन्हीं दिनों उन्होंने अपने परम प्रिय उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो की 'नाइण्टी थ्री' नामक पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद 'बलिदान' के नाम से किया। जेल से निकलने के बाद उन्होंने अपने जेल-जीवन के सम्बन्ध में 'जेल जीवन की झलक' शीर्षक बड़ी रोचक लेखमाला लिखी, जो 'प्रताप' के कई अंकों में प्रकाशित होती रही। पाठकों के मनोरंजनार्थ उसका थोड़ा सा अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

"......इन पंक्तियों का लेखक वर्तमान जेलों की उपयोगिता पर विश्वास ही नहीं करता। ये जेल तोड़ दिये जाने चाहिये। देश के कल्याण के लिये जिन लोगों की आजादी का छीना जाना आवश्यक समझा जाय, उनके और किसी प्रकार से रखने की व्यवस्था होनी चाहिये। इन जेलों में मनुष्यों को पशु और पशु को दैत्य बनाया जाता है। जिन अपराधों के लिये लोग इनमें रखे जाते हैं, उन्हीं अपराधों को अधिक निडरता और होशियारी के साथ करने के लिये उन्हें तैयार किया जाता है। चोर जेल से निकल कर डाकू बनता है, और डाकू—हत्यारा। उन्नति होती है, परन्तु उल्टी दिशा में। बाहर की हवा न लगने पावे, इसके लिये चौकी, पहरा, ताले और बेड़ियाँ होती हैं; बड़े-बड़े फाटक और

बड़ी-बड़ी जंजीरें होती हैं; परन्तु देश का कोई भी जेल ऐसा नहीं, जहाँ वही काम जोरों से न होते हों, जिनके लिये लोग जेल भेजे जाते हैं। जेलों में चोरी होती है, दग़ाबाज़ी होती है, दुराचार होता है और व्यभिचार होता है। उसे करते हैं क़ैदी, और करते हैं वे लोग जो उनके सिर पर अंकुश लिये सदा खड़े रहते हैं। दो-दो आने तक की रिश्वत चलती है। जो कैदी पैसा वाला होता है, उसे सता कर घर से पैसा मँगाने के लिये मजबूर किया जाता है। आने वाले पैसे में से एक-चौथाई लाने वाले का और तीन-चौथाई में से कुछ जेल वालों के पेट में जाता है। यदि न जाय तो तंग किये जायँ और कड़े-से-कड़े काम पर लगा दिये जायँ।......

जेलों में दुराचार भी कम नहीं होता। कम उम्र के लड़के-क़ैदी दुराचारियों को सौंप दिये जाते हैं, और सौंपते हैं जेल वाले। इस काम में रिश्वतें चलती हैं, और फिर आपस में छुरियाँ तक चल जाती हैं। लखनऊ जेल में मेरे पहुँचने के कुछ पहले छुरियों के चलने की एक घटना हो गई थी। उसे चुप-चाप दाब दिया गया। जेल में दाब तो न मालूम क्या-क्या बातें दी जाती हैं। कहने को जेल का प्रबन्ध बहुत अच्छा समझा जाता है। जेल के हाकिम इस इन्तज़ाम पर इतराते हैं; परन्तु सच बात यह है कि जेल का जितना ख़राब इन्तज़ाम होता है, उतना ख़राब और किसी भी विभाग का नहीं। जेल के कर्मचारी पुलिस वालों से अधिक रिश्वतख़ोर और अत्याचारी हैं। जेल का मनों माल साफ़ उड़ा देते हैं। खूब रुपया खाते हैं। क़ैदियों से खाते और क़ैदियों का पेट काट-

काट कर खाते और सरकारी भी खाते। जेल के कर्मचारियों के घरों की तलाशी हो तो मनों माल जेल का उनके घर से निकले। जेल के बने फ़रनीचर और क़ालीनों से तो उनके घर पटे रहते हैं। जेल के बाग़ का साग और फल उनकी पैतृक सम्पत्ति है। अन्न तक उनके घरों में पहुँचता है और बड़े साहब के घोड़े तक के लिये जेल का चना जाता है। सरकार को ये सब बातें मालूम हैं। इसी लिये वह जेल के कर्मचारियों की तनख्वाह नहीं बढ़ाती। जेल के एक कर्मचारी ने बातों-ही-बातों में कहा कि बड़े-बड़े अफ़सर सब जानते हैं कि हम लोग कितना कमाते हैं, जेल की आमदनी तो इतनी मशहूर है कि आप चाहें तो एक-एक की जगह के लिये दस-दस काम करने वाले आ कर करें और वे भी बिना तनख्वाह के—अर्थात् लोग जेल का काम बिना तनख्वाह तक करने के लिये तैयार रहते हैं। सचमुच जेल उसके कर्मचारियों के लिये कल्पवृक्ष या कपिला गौ है! जो संस्था इतनी भ्रष्ट हो, वह तो तुरन्त नष्ट कर दी जानी चाहिये। उसका कम-से-कम इस बात का दावा कदापि न होना चाहिये कि उससे लोक-कल्याण होता है।...जेल में अपमान तो पग पग पर होता था। तो भी अपनी ख्वारी तो उससे कुछ भी नहीं। हाँ, देश के उसी काम के लिये, जिसके लिये हम जेल पहुँचे थे, अपने हज़ारों भाइयों के जेल की सच्ची यन्त्रणाओं के सहने का हाल सुन कर, या उसकी कल्पना करके, और फिर उसी समय, उसी के साथ अपनी दशा पर विचार करके और अपने आदमियों में से अनेक की चित्त-वृत्तियों और

मानसिक अवस्था को देख कर, बहुधा लज्जा आती थी, और स्वीकार करना पड़ता था कि हमारे शासकों की चाल ने यहाँ भी बुरा काम किया और हम में से बहुतों को, शायद अधिकांश को नीचे गिरा दिया। कष्टों की उपासना के पक्ष में ये पंक्तियाँ नहीं लिखी जा रही हैं। कष्टों को केवल कष्टों के लिये सहने की बात नहीं कही जा रही है। शरीर और मन को पुष्ट करने के लिये न्योता नहीं दिया जा रहा है। खामख्वाह आग में कूद पड़ने की सलाह नहीं दी जा रही है; परन्तु इंसानियत का तकाजा है, भाई-पने की राह है, एक पथ के पथिक होने की अवस्था है, जिसकी ओर अत्यन्त विनय के साथ इशारा किया जा रहा है। जहाँ जंजीरें खनक रही हों, जहाँ काल-कोठरी का अन्धेरा हो, जहाँ बात-बात पर तिरस्कार और मार हो, और जहाँ पग-पग पर फटकार और प्रहार पर प्रहार हो, जहाँ मनुष्यता को रौंद डालने का विचार काम करता हो, जहाँ मनुष्यों को निकृष्ट-से-निकृष्ट प्राणी की भाँति भी रहने देना वांछनीय न हो, जहाँ खाने के लिये मिट्टी मिला आटा और कीचड़ मिली दाल हो, और पहनने के लिये जूँ-भरे फटे कम्बल और लज्जा का भी निवारण न कर सकने योग्य वस्त्र न हों, जहाँ हमारे पथ के पथिक, हमारे सखा, हमारे दोस्त, हमारे भाई, हमारे अपने, एक नहीं, दो नहीं, दस नहीं, सौ नहीं, हजारों की तायदाद में, रामरत्न और चाँदमल के रूप में, मलखानसिंह और महाबीर त्यागी के वेष में, नरदेव और कबाडिया की शकल में, यन्त्रणाओं और अपमानों के जीवन-पथ

में अपने ये दिन बिता रहे हों, वहीं हम विशेष व्यवहार के इस प्रपंच में पड़े हुए मुँह का स्वादिष्ट ग्रास गले के नीचे उतारने में, अच्छे आरामदेह वस्त्रों को शरीर पर धारण करने में, अपने भले बिछौने पर सुख से शयन करने में, बिना पतित हुए, बिना अपना हृदय खोए, बिना अपने को नीचे गिराए कैसे समर्थ हो सकते थे? इन पंक्तियों का लेखक एक व्यक्ति की हैसियत से स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है कि जेल में अपने जो दिन कटे वे बहुत कुछ बे-शर्मी के कटे, और उनकी याद, दिशा की दूसरी ओर की स्मृति के साथ, गर्दन को नीचे झुक जाने के लिये विवश करती है।" *

उनकी तीसरी जेल-यात्रा फतेहपुर जिला-कांफ्रेंस के सभापति-पद से दिये गये भाषण के सम्बन्ध में हुई थी। दफा १२४ ए० (राजद्रोह) के अभियोग में एक साल की सजा तथा १००) जुर्माना (जुर्माना न देने पर तीन महीने की और क़ैद) की सज़ा हुई थी। जुर्माना पुलिस वालों ने अपने मनमाने ढंग पर वसूल कर लिया। हिन्दुस्तान में देश-भक्तों पर राजद्रोह के जो मामले चलाये जाते हैं और संसार में सर्वोत्कृष्ट सभ्यता का दम भरने वाली अंग्रेज जाति की अदालतों में न्याय-प्रदान का जो स्वांग रचा जाता है, वह न केवल हिन्दुस्तान भर में, बल्कि तमाम संसार में अच्छी

* विद्यार्थी जी पहली दफे स्पेशल क्लास (आजकल के ए० क्लास के जैसा) में रखे गये थे और देश के अन्य हजारों आदमी साधारण श्रेणी (सी० क्लास) में। इसी विषमता से दुखी हो कर विद्यार्थी जी ने ये लाइनें लिखी थीं।

तरह प्रकट हो चुका है और इस सम्बन्ध में कुछ लिखना व्यर्थ है। इस मुकदमे में विद्यार्थी जी ने अपना जो बयान (Statement) दिया था, वह बहुत ही सुन्दर है। उसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है:—

"सरकारी रिपोर्टर ने मेरे व्याख्यान की जो रिपोर्ट की है, वह अपूर्ण, ग़लत और कहीं-कहीं बिलकुल विकृत (distorted) है। मेरा मतलब यह नहीं है कि रिपोर्टर ने जान बूझ कर, महज़ इसलिये उसमें वे शब्द घुसेड़ दिये हैं जो मैंने नहीं कहे थे, कि जिससे मेरे ऊपर राजद्रोह का मुकदमा चल सके ; परन्तु यह स्पष्ट है कि जिस भाषा में मैंने व्याख्यान दिया था, उस भाषा का उसे बहुत ही कम ज्ञान है और वह मेरी बातों का मतलब समझने तथा उनकी प्रासंगिकता और उपयुक्तता जानने में असमर्थ रहा। उसने मेरे सवालों के जवाब में मंजूर किया है कि उसने कई संस्कृत शब्द समझ में न आने के कारण छोड़ दिये। अपनी रिपोर्ट में भी उसने जिन वाक्यों और शब्दों की रिपोर्ट ठीक समझ कर की है, उनका अर्थ वह न बता सका। वास्तव में जिन लोगों को विद्वान् वक्ताओं और लेखकों द्वारा बोली और लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा का काम-चलाऊ ज्ञान भी है, वे तुरन्त यह देख लेंगे कि रिपोर्टर ने कई ऐसे शब्द लिख दिये हैं, जिनका कोई अर्थ ही नहीं, और जो वास्तव में, क्या हिन्दी और क्या अन्य भाषा, किसी में भी नहीं पाये जाते। कई जगहों में उसने ऐसे शब्द लिख डाले हैं, जिनका प्रसंगानुसार कोई अर्थ नहीं होता! बात यह मालूम होती है कि

प्रत्यक्षतः रिपोर्टर जिन शब्दों को सुन या समझ न सका, उनकी जगह पर उसने अप्रत्यक्षतः दूसरे शब्द अटकल से लिख दिये। वास्तव में, रिपोर्टर ने व्याख्यान की जो रिपोर्ट पेश की है, वह ऐसे संबंध-हीन वाक्यों का ढेर मात्र है, जो एक दूसरे के साथ मेल नहीं खाते। कई वाक्य केवल कुछ ऐसे शब्दों का संग्रह मात्र हैं, जिनका कोई भी अर्थ नहीं होता। मैं भद्दा वक्ता नहीं। मैं ठीक-ठीक और सिलसिलेवार बोल सकता हूँ। यह बात रिपोर्टर ने स्वयं स्वीकार की है। रिपोर्टर ने जो कुछ कहा है, उसके प्रतिकूल यह भी स्पष्ट है कि वह बहुत अच्छी तरह से शार्टहैंड रिपोर्टिङ्ग नहीं जानता और उसके लिये यह असम्भव था कि मुझ जैसे शीघ्र-वक्ता के भाषण की पूर्ण रिपोर्ट ले लेता। न केवल मेरे भाषण के कई वाक्यों और कई मुख्य अंगों की रिपोर्ट ही नहीं की गई, बल्कि जिन वाक्यों की रिपोर्ट की गई है, उनमें से भी महत्त्वपूर्ण शब्द और शब्द-समूह छोड़ दिये गये हैं और रिपोर्टरों की आम आदत के मुताबिक कहीं कहीं तो रिपोर्टर ने अपनी अक़्ल के मुताबिक मेरे वाक्यों का मतलब ठीक करने के लिये अपने शब्द जोड़ दिये हैं। इसलिये मेरे रिपोर्ट किए हुए भाषण से जो आम असर पड़ता है, वह बहुत ही भ्रमोत्पादक है। रिपोर्टर ने शब्दों के जिस संग्रह की रिपोर्ट की है, उसे मेरे भाषण की रिपोर्ट कहना, भाषा की विडम्बना करना है। नीचे दिये गये वाक्यों का अर्थ क्या हो सकता है?—

(१) देश में जितनी शिकायतें हैं उनको सञ्चलित करने की कोशिश करूँगा।

(२) मित्रों से कहना चाहता हूँ कि असहयोग उनकी सहानुभूति नहीं है।

(३) जब तुम अहिंसा के बल से स्वराज्य लेना चाहते हो, तो अब न कहो कि हम नहीं कर सकते।

(४) उन सारी शिकायतों को जो इस तरह उसके सारे आदमियों को पहुँचती हैं, सबका मुख़ालिफ़ हूँ।

(५) जब माता के बच्चे जनें तो धुन के साथ यह कह दें।

(६) आज कौंसिल में विरोध हैं, कल तिजारत में विरोध होगा।

(७) लड़ाई चुपकी नहीं है।

(८) मैं माफ़ी चाहता हूँ।

अदालत के जवाबों में मैंने अपने भाषण के कुछ आवश्यक वाक्यों को, जहाँ तक मुझे याद था, वहाँ तक सुधार दिया। मैंने कुछ वाक्यों का, जो यद्यपि भद्दी तरह से रिपोर्ट किये गये हैं, परन्तु जिनको शायद सरकार ने मेरे बरख़िलाफ़ राजद्रोह का अभियोग चलाने का आधार माना है, अर्थ कर दिया है। अगर मेरे ऊपर यह आरोप किया गया हो कि मैं मौजूदा नौकरशाही से जरा भी प्रेम नहीं करता, मैं अपने श्रोताओं के मन में उसके काम के प्रति असन्तोष उत्पन्न करना चाहता था और चाहता था उनके मन में वर्त्तमान शासन-प्रणाली को दूर करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न करना, तो स्वीकार करता हूँ कि मैं अपराधी हूँ। मैंने अपने भाषण में कहा था और मैंने उस समय जो भाव प्रकट

किया था, उसे मैं आज भी ठीक समझता हूँ। उन तमाम हानिकर प्रभुत्वों को हटा देना चाहिये जो लोगों की न्यायोचित आकांक्षाओं का दमन करते हैं और उनको बन्धनों में जकड़े रखने में मदद देते हैं, फिर चाहे ऐसा प्रभुत्व शासक नौकरशाही का हो या ज़मींदारों का, धनवानों का हो या ऊँची जातियों का। परन्तु अगर मेरे ऊपर यह आरोप है, जैसा कि मालूम होता है कि वह है, कि मैंने लोगों को उपद्रव के लिये उत्तेजित किया है, तो मैं पूर्णतया उसका प्रतिवाद करता हूँ। सभा में, वास्तव में जो कुछ हुआ, वह यह है, कि मेरे मित्र पं० गौरीशंकर मिश्र ने, जो कांग्रेस के अपरिवर्तनवादी कहे जाने वाले दल के हैं, मेरी राय पर, जो कौंसिलों के पक्ष में थी, हमला किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने अहिंसा और अप्रतिरोध के सिद्धान्त पर जोर दिया। ऐसा मालूम पड़ता था कि उनके निज के विचार में कौंसिल के चुनाव में खड़ा होना एक तरह की हिंसा है। सरकिल इंस्पेक्टर गोविन्दबिहारी ने अपने बयान में यह बात कही है कि पं० गौरीशंकर मिश्र ने कहा कि कौंसिलों में जाना हिंसा है। मिश्र जी ने दो घंटे तक लम्बा भाषण दिया। उन्होंने हिंसा और अहिंसा के ढङ्ग के गुण-अवगुणों की विस्तृत सैद्धान्तिक विवेचना की। यह महत्वपूर्ण बात याद रखनी चाहिये कि इस विवाद में हिंसा शब्द का प्रयोग हिन्दू नीति-शास्त्र के अनुसार दूसरे को किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचाने के अर्थ में किया गया था। पं० गौरीशंकर मिश्र ने प्रेम

और अहिंसा की दार्शनिक व्याख्या करते हुए कहा कि प्रेम और अहिंसा दार्शनिक अर्थ में, स्वतन्त्रता लेने के लिये की जाने वाली हर तरह की हिंसा के विरुद्ध हैं। संक्षेप में उन्होंने राजनीति में पूर्ण प्रेम के साथ किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाने की समस्त इच्छाओं से मुक्त असहयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अपरिवर्तन वाले होने के कारण उन्होंने कौंसिलवादी दल पर यह समझ कर हमला किया मानों उनकी राय में वह दल महात्मा गान्धी द्वारा प्रतिपादित अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ करने को तैयार था। मैं पं० गौरीशंकर मिश्र के बाद बोला और मेरे भाषण का तात्पर्य समझने के लिये यह जरूरी है कि पं० गौरीशंकर मिश्र का भाषण पढ़ लिया जाय। इसलिये मैंने अदालत से कहा था कि उनके भाषण की रिपोर्ट भी रेकर्ड में होनी चाहिये थी; परन्तु अदालत ने यह बात न मानी। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ कहा, उसे उस विवाद के एक भाग स्वरूप पढ़ना चाहिये जिसे पं० गौरीशंकर मिश्र ने शुरू किया। अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त के प्रति मेरा व्यवहार क्या है, यह सरकारी रिपोर्ट में दिये गए इस वाक्य से पूर्णतया मालूम हो जाता हैं—'मैं नानवायलैंस (अहिंसा) को शुरू से अपनी पालिसी मानता रहा हूँ, धर्म नहीं मानता रहा'। मैंने अपने व्याख्यान में यह दिखाया कि मनसा और कर्मणा अहिंसा साधारण मनुष्यों का सहज स्वभाव नहीं है और इसलिये राजनैतिक संग्राम में उसे अपना साधारण हथियार नहीं बनाया जा सकता। जहाँ

मैंने यह कहा है कि मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ, वहाँ स्पष्टतया मेरा मतलब यह है कि मैं राजनैतिक संग्राम चाहता हूँ। यह ज़रूरी नहीं है कि यह संग्राम प्रेम और अहिंसा के उस सिद्धान्त पर आधारित हो जिसकी व्याख्या मिश्र जी ने की है। मुझ में और पं० गौरीशंकर मिश्र में जो सैद्धान्तिक राजनैतिक विवेचना का विवाद हो रहा था, उसी विवाद में अपने सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिये मैंने यहाँ तक कह डाला कि अगर ब्रिटिश सत्ता मेरे सामने प्रतिमा का रूप धारण करके आवे, तो मैं उसकी उपासना नहीं करूँगा; बल्कि उसे खण्डित करके प्रवाहित कर दूँगा। इसके बाद दूसरे ही वाक्य में मैंने दूसरी अवांछनीय सभाओं को, जैसे ज़मीदारों, धनवानों और ऊँची जातियों की सभा का जिक्र किया और कहा कि मैं इन सबको भी हटा दूँगा। यह सवाल तो उठ ही नहीं सकता कि मैंने लोगों को शारीरिक हिंसा करने के लिये उत्तेजित किया, क्योंकि मैं कांग्रेसमैन हूँ। मैंने अपने भाषण में यह भी कह दिया था कि यद्यपि मैं अहिंसा को धर्म नहीं मानता, तथापि मैं अपनी वर्त्तमान अवस्था में राजनैतिक संग्राम का सर्वोत्तम साधन मानता हूँ। परन्तु जब मेरे एक मित्र यहाँ तक कह डालते हैं कि कौंसिलों में जाना भी हिंसा है, तब मुझे उस धारणा की परीक्षा करने के लिये जिस पर यह सिद्धान्त टिका हुआ है, इस प्रकार की अहिंसा के विरुद्ध अपनी आवाज़ बुलन्द करनी पड़ती है। हिंसा, अहिंसा, अप्रतिरोध और राजनैतिक संग्राम, कौंसिलों में जाना अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध है या नहीं, इत्यादि के



फतेहपुर राजद्रोह केस के अभियुक्त

श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी

(मार्च १९२३ ई०)

सम्बन्ध में जो समस्त वाद-विवाद हुआ, वह सैद्धान्तिक (Academic) था। मुझमें और पं० गौरीशंकर मिश्र में केवल सिद्धान्तों पर ही बहस हुई। लोगों को हिंसा के लिये उत्तेजित करने का विचार तो मेरे पास फटक तक नहीं सकता, क्योंकि मेरी राष्ट्रीय दृष्टि से इससे अधिक अहमकपना और आत्म-घातक बात और कोई हो ही नहीं सकती। सरकार की तरफ से सिर्फ देवीदयाल गैर-सरकारी गवाह की तौर पर पेश किया गया है। उसका कहना है कि उस पर मेरे व्याख्यान का यह असर पड़ा कि मैंने लोगों को हिंसा के लिये उत्तेजित किया। मैं इस व्यक्ति का इतमीनान नहीं करता। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे श्राताओं पर यह असर हरगिज़ न पड़ना चाहिये था। देवीदयाल की बातों से प्रकट है कि वह पुलिस का जीव है। मुकद्दमों में पुलिस अकसर इससे गवाही दिलाती है। काँग्रेस आफिस के सामने बोर्ड पर काँग्रेस के जो नोटिस लिखे रहते हैं, पुलिस उनकी नकल ले लेती है। इस नक़ल पर यह दस्तख़त किया करता है। इसे गोली-बारूद बेचने का लाइसंस भी मिला हुआ है। इस प्रकार वह एक ऐसा आदमी है जो पुलिस ने मेरे बरखिलाफ़ अपने इच्छानुकूल बातें कहलवाने के लिये पेश किया। मेरी अन्तरात्मा मुझसे साफ़-साफ़ कहती है कि मेरे मन में लोगों को हिंसा के लिये उत्तेजित करने का इरादा न था। परन्तु यदि मेरे श्रोताओं में से एक के दिल पर भी वास्तव में यह असर पड़ा हो, तो इसके लिये मैं हृदय से दुःखी हूँ। अगर मुझे सच-सच यह मालूम हो जाय कि मैंने

ग़लती की, तो मैं तुरन्त उसे स्वीकार कर लूँगा। अगर मेरे कोई वाक्य लोगों को हिंसा करने के लिये उत्तेजित करने वाले होते, तो मैं सहर्ष उन्हें वापस ले लेता; क्योंकि मैं कांग्रेस का एक विनम्र परन्तु कट्टर सदस्य हूँ; और लोगों को हिंसा के लिये उत्तेजित करना राष्ट्रीय महासभा के सिद्धान्त के विरुद्ध है। निस्सन्देह मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ और टाल्स्टाय और महात्मा गान्धी पूर्ण अहिंसा को जिस अर्थ में धार्मिक सिद्धान्त मानते हैं, उस अर्थ में मैं उस पर विश्वास नहीं करता; परन्तु मैं सशस्त्र क्रान्ति करने पर किसी को शारीरिक हानि पहुँचाने की हिंसा को भी अपनी वर्त्तमान अवस्था में ठीक नहीं समझता। हमारी वर्त्तमान अवस्था में तो उसका विचार करना तक मूर्खता और आत्म-घातक है। मैंने जो कुछ कहा है वह सब केवल अपनी स्थिति साफ़ करने के लिये कहा है, किसी को संतुष्ट या असन्तुष्ट करने के लिये नहीं। जहाँ तक राजद्रोह से सम्बन्ध है, वहाँ तक मुझे एक शब्द भी नहीं कहना है। मैं यह जानता हूँ कि हमारे देश में दफ़ा १२४ ए० का प्रयोग कितनी गैर-जिम्मेदारी के साथ किया जाता है। किसी भी सच्चे राजनैतिक कार्यकर्त्ता के लिये क्षण भर के लिये भी यह अनुभव करना असम्भव है कि वह इस समय उस धारा की व्यापक शब्दावली और उसके काम में लाये जाने वाले भाव से बचा हुआ है। मुझे छूटे हुए अभी दस महीने नहीं हुए कि मेरी राजनैतिक क्रियाओं को बन्द करने का एक अवसर तलाश कर लिया गया। मुझे इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं। मैं उस

नौकरशाही से किसी प्रकार की आशा नहीं रखता, जिसके विरुद्ध हमारा सारा राजनैतिक संग्राम हो रहा है। परमात्मा मुझमें इतनी शक्ति दे कि मेरे ऊपर जो कुछ आवे उसे मैं प्रसन्नता-पूर्वक सह लूँ और कठिन-से-कठिन अवसर पर भी जनता और मातृ-भूमि की सेवा के आदर्श को न भूलूँ।" फतेहपुर वाले भाषण के सम्बन्ध में जेल जाने के पूर्व विद्यार्थी जी पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी के पास गये हुए थे। उस समय उनको यह मालूम हो गया था कि उन पर उक्त भाषण के सम्बन्ध में मुकदमा चलने वाला है। वहाँ से उन्होंने अपने बड़े भाई श्री शिवव्रतनारायण जी के पास निम्न लिखित पत्र लिखा था। इस पत्र को पढ़ने से पाठकों को मालूम होगा कि विद्यार्थी जी अपने कर्त्तव्य-पालन और कष्ट-सहन के लिये कितना तत्पर रहते थे तथा परमात्मा पर उन्हें कितना विश्वास था:—

३—३—१९२३

पूज्य भाई साहब, प्रणाम।

झाँसी से लिखे हुए पत्र आपको मिल गये होंगे। उसके सबेरे ही मैं यहाँ—बनापुरा, चतुर्वेदी जी के साथ चला आया। यहाँ अच्छी तरह से हूँ। कोई कष्ट नहीं है। चतुर्वेदी जी की माता बड़े प्रेम से भोजन कराती हैं और उनके भाई सेवा करते हैं। आज होली का दिन है। आप लोगों को मेरी चिन्ता होगी; परन्तु चिन्ता तनिक भी न कीजियेगा। यहाँ कोई कष्ट नहीं है और सबका व्यवहार घर का सा है। ५ ता० को यहाँ से चलेंगे और

६ ता० को सबेरे कानपुर पहुँचेंगे। घर पर पहुँच कर आप लोगों से मिल भी लेना है। हो सका, तो नहा-धो कर कुछ खा-पी भी लूँगा। उसके पश्चात् अपने को पुलिस के हाथों में दे देना है। उसी दिन फतहपुर चला जाना होगा और १०—१२ दिन के भीतर ही सब फैसला हो जायगा। सज़ा कितनी होगी, सो नहीं कहा जा सकता। मेरा ख्याल है कि एक वर्ष के लिये यह कष्ट सिर पर पड़ेगा। आप लोग मेरे दुर्बल शरीर के कारण चिन्तित होंगे। आप इसकी चिन्ता न करें। मुझे कष्ट नहीं होगा। मैं आराम से रहूँगा। मुझे आराम पहुँचाने वाले सब जगह हैं और सबसे अधिक भरोसा ईश्वर का है। इस कष्ट का सहना आवश्यक हो गया है। यदि इस कष्ट के सहने से मैं अपना कदम पीछे हटाऊँगा, तो मेरा जीवन बहुत कड़ुआ हो जायगा। इसलिये, आप लोग ईश्वर पर भरोसा रख कर, सहर्ष आज्ञा दीजिये। मुझे बाबू जी की चिन्ता है। बड़ा कठिन समय है। आप उन्हें धीरज दीजियेगा। आशा नहीं कि वे इस चोट को सह सकें।........आप चिन्ता न करें और घर-वालों का भी परमात्मा पर भरोसा बँधावें। मनुष्य के जीवन में, बहुधा संकट के समय आया करते हैं; परन्तु वे सदा नहीं रहते। मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि इस संकट से मुझे कोई विशेष लाभ होगा।........अपने हृदय को तनिक भी न गिरने दीजियेगा। मुझे आशीर्वाद देते रहिये। अम्मा को प्रणाम। बाबू जी को क्या लिखूँ। बच्चों को प्यार।

चरण-सेवक—गणेशशङ्कर

जिस समय उनको यह सजा दी गई थी, उस समय उनका स्वास्थ्य इतना खराब था, शरीर इतना दुर्बल और कमजोर था, कि लोगों को इसमें सन्देह था कि जेल की कठिन यंत्रणाओं को सह कर ये जीवित जेल से बाहर निकल सकेंगे या नहीं। एक प्रतिष्ठित पत्र के सम्पादक, राजनैतिक क्षेत्र के प्रसिद्ध नेता, इसके पहले स्पेशल क्लास के कैदी तथा डेढ़ पसली के अत्यन्त दुर्बल और अस्वस्थ विद्यार्थी जी को न्यायाधीश ने एक वर्ष की सपरिश्रम सज़ा दे कर साधारण कैदियों—चोर, डाकू, गुण्डे, बदमाश आदि—के साथ रहने का हुक्म सुना दिया। फतेहपुर से वे शीघ्र ही नैनी सेण्ट्रल जेल में भेज दिये गये। २० मार्च १९२३ ई० को उन्हें सज़ा हुई थी और २९ जनवरी १९२४ को नैनी सेण्ट्रल जेल से वे रिहा हुए। इन दस महीनों के अन्दर उनको जेल में बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़े। इलाहाबाद की गर्मी प्रसिद्ध है और उसमें भी नैनी जेल की तो बात ही क्या पूछना! कष्ट-सहन के आदी, बड़े वीर और एक दफे जेल की कसौटी पर कसे हुए विद्यार्थी जी को भी उस साल की गर्मी बहुत खली। तड़प-तड़प कर किसी प्रकार दिन काटे। यों ही, बाहर रहने की दशा में भी गर्मी से वे बहुत व्याकुल हो जाते थे; जेल में तो गर्मी के मारे मानों उनकी मौत-सी हो गई।

तकलीफ भी सिर्फ यही एक तो न थी; खाने पीने की तकलीफ, रहने सोने की तकलीफ, संगी-साथियों की तकलीफ—क्या क्या कहा जाय—बस तकलीफ-ही-तकलीफ थी। जिस बैरक में

वे थे, उसमें रात में अक्सर साँप और बिच्छू निकलते, पर भगवान् की कुछ ऐसी कृपा थी कि कभी उन्होंने उन्हें छुआ तक नहीं। इससे ईश्वर पर उनका विश्वास बहुत बढ़ गया। नैनी जेल में वे ८ दफे रामायण का पारायण कर गये और वहाँ से लौटने पर जाजमऊ (कानपुर से छः मील पूरब) नामक स्थान में, जब कि हफ्ते भर के लिये उन्होंने एकान्त वास किया था, नवीं दफे उसका पाठ पूरा किया। इस जेल में एक बूढ़ा वार्डर था। वह विद्यार्थी जी के आचरण और बात-चीत से बहुत प्रसन्न रहता था। रोज जेल के बाग से एक नीबू चुरा कर लाता और विद्यार्थी जी को दिया करता। विद्यार्थी जी भी उसके भोलेपन और हृदय की सचाई पर मुग्ध थे। उसने विद्यार्थी जी को हर त्रयोदशी को शिवजी का प्रदोष व्रत रखने * को कहा और विद्यार्थी जी के मन में यह बात ऐसी बैठ गई कि वहाँ से आने के बाद से मृत्यु पर्यन्त बराबर यह व्रत रखते रहे। उपर्युक्त सब तकलीफों को बर्दाश्त कर विद्यार्थी जी इस बार भी जेल से सानन्द लौट आये।

चौथी बार वे 'प्रताप' के शिकोहाबाद (मैनपुरी) के मान-हानि वाले मुकदमे में जेल गये थे। ४००) जुर्माना या ६ महीने की कैद की सजा हुई थी। उन्होंने जुर्माना न दिया, और जेल चले भी गये; पर मित्रों ने जुर्माने का रुपया दाखिल कर दिया और इस दफे सिर्फ २४ घण्टे ही जेल में रहे। हाई कोर्ट में जा कर मुकदमा

---

* प्रदोष व्रत में दिन भर कुछ नहीं खाया जाता, रात में जो मन में आवे खाया जाता है।

खारिज हो गया था और विद्यार्थी जी निर्दोष बता कर छोड़ दिये गये थे। इसका विशेष हाल 'प्रताप' के इतिहास में आगे मिलेगा। इस बार गणेश जी को सिर्फ दो ही दफे जेल की रोटियाँ नसीब हो सकीं।

पाँचवी दफे मई १९३० में वे जेल गए थे। उसी साल अप्रैल में कानपुर में हुए प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन में दिये गये भाषण को राजद्रोहात्मक बता कर २५ मई को वे दफा ११७ में गिरफ्तार हुए और उसी दिन एक साल की सख्त कैद की सजा दे दी गई। भाषण वाला अभियोग तो बहाना मात्र था। उस समय देश में घनघोर सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था। चुन चुन कर देश के नेता जेलों में बन्द किये जा रहे थे। विद्यार्थी जी युक्त प्रान्त के प्रथम डिक्टेटर की हैसियत से प्रान्त भर के सत्याग्रह-संग्राम का संचालन कर रहे थे। फिर वे कैसे बचते? एक बहाना ढूँढ़ कर धर लिये गये। जिस दिन उन्हें सजा हुई (२५ मई), उसी दिन शाम को कानपुर से हटा कर हरदोई जेल में १२ बजे रात को पहुँचाये गये। इस बार वे ए० क्लास में रखे गये। यद्यपि स्वास्थ्य खराब था, फिर भी इस बार उनका जेल-जीवन अधिक कष्टप्रद न था। इस बार वे बराबर उसी जेल में रहे और अपनी मियाद पूरी होने के सिर्फ ६ दिन पहले गान्धी-इरविन समझौते के अनुसार जेल से मुक्त हुए। १५ मार्च १९३१ को मियाद पूरी होती थी, ९ मार्च को वे रिहा हुए थे और इसके १६ ही दिन बाद स्वर्ग-वासी हुए।

सत्याग्रह-आन्दोलन जब शुरू हुआ था, तब प्रायः देश भर के नेताओं को चुन चुन कर दफा ११७ में (लोगों को कानून तोड़ने के लिये उकसाने के अभियोग में) साल, दो साल और तीन तीन साल तक की सजाएँ दे दी गईं। एक अजीब तमाशा था, न्याय का स्वाँग रचा जाता था। कानून तोड़ने वाले को छः महीने की सज़ा और कानून तोड़ने के लिये उकसाने वालों को साल, डेढ़ साल और दो साल की सज़ा ! विद्यार्थी जी पर अपने व्याख्यान में नमक-कानून तोड़ने के लिये कहने का अभियोग था। बाद को युक्त प्रान्त, बम्बई, देहली आदि प्रान्तों के वकीलों ने इस अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ उठाई और ऐसी सज़ाओं के खिलाफ़ हाई कोर्ट में अपीलें कीं। हाई कोर्ट ने फैसला किया कि नमक कानून के साथ ११७ दफ़ा नहीं लग सकता और कानून के तोड़ने के लिये जितनी सज़ा निर्धारित है, उसे तोड़ने के लिये उकसाने वाले को किसी भी हालत में उससे अधिक सज़ा नहीं दी जा सकती। इस फ़ैसले के अनुसार बहुत लोगों की सज़ाएँ कम हुईं। यू० पी० में भी श्री मोहनलाल सक्सेना आदि की सज़ाएँ बजाय दो दो साल के छः छः महीने की हो गईं। विद्यार्थी जी के मित्रों और वकीलों ने भी उनकी सज़ा के खिलाफ़ अपील करने के लिये उन पर बहुत ज़ोर डाला। बार बार उनसे कहा कि अपील करने की इजाजत दीजिये। पर वे किसी भी प्रकार राज़ी न हुए। इसको वे अपने स्वाभिमान और आत्म-गौरव के ख़िलाफ़ समझते थे। जहाँ देश के हज़ारों आदमी मनमाने अन्याय के साथ दो दो और चार चार साल के

लिये जेलों में बन्द थे, वहाँ कुछ आदमी अपनी सजा घटाने की चेष्टा करें ; और चेष्टा करें उसी अदालत के सामने, जिसके सामने वे कुछ भी कहने को तैयार न थे और जहाँ राजनैतिक अपराधियों के लिये न्याय नाम की कोई चीज़ रह नहीं गई हो, यह उनकी दृष्टि में आत्म-सम्मान के सर्वथा विरुद्ध था।

कानपुर में प्रभाव

"मनुष्य की सफलता वीरता, त्याग, सत्य, प्रेम और विश्वास पर निर्भर है, न कि कानूनी ज्ञान, हिसाब-किताब, कूटनीति, घृणा और अविश्वास पर।"

—गान्धी जी

विद्यार्थी जी कानपुर के गान्धी, वहाँ के राष्ट्रीय जीवन के प्राण और वहाँ के मजदूरों के त्राण थे। कानपुर के हृदय पर उनका एकाधिपत्य था, कोई उस स्थान को नहीं पा सकता था। कानपुर पर वे निछावर थे और कानपुर वाले उन पर फिदा! न केवल पं० जवाहरलाल नेहरू के ही लिये, बल्कि कितने ही दूसरों के लिये भी 'वे समूचा कानपुर थे।' विद्यार्थी जी के उदय के पहले कानपुर में राजनैतिक जीवन नहीं के बराबर था। विद्यार्थी जी नौजवान थे; उनमें बड़ा उत्साह, अपरिमेय साहस और अनोखी शक्ति थी। उन्हें मुर्दादिली, शिथिलता, और ढीला-ढाला-पन कतई पसन्द न था। १९१६ ई० की बात है। लखनऊ में बड़े समारोह के साथ कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। लोकमान्य और महात्मा गान्धी भी आये थे। विद्यार्थी जी भी अपने नौजवान अललबछेड़ों के साथ वहाँ पहुँचे थे। कानपुर रास्ते में पड़ता था। कह-सुन के इन्होंने दोनों महापुरुषों को कानपुर में उतारा। महात्मा जी 'प्रताप'प्रेस के आजकल के, ही उस पुराने खंडहर में ला कर ठहराये गये। उस समय कानपुर वाले स्वराज्य-सम्बन्धी बातों से

इतना भय खाते थे कि महात्मा जी को स्टेशन से लाने के लिये न तो किसी ने अपनी सवारी दी और न ठहरने के लिये जगह। 'प्रताप' प्रेस में जब सभी लोग बैठे, तो विद्यार्थी जी ने महात्मा जी से शिकायत की कि हम नौजवानों को ज़रा प्रोत्साहन देने वाला, काम करने के लिये उत्साहित करने वाला, साथ देने वाला तक यहाँ कोई नहीं है। संयोग-वश डा० मुरारीलाल भी वहाँ बैठे थे। महात्मा जी ने उनसे कहा—'डाक्टर साहब, आप क्यों नहीं इन नौजवानों से काम लेते। अगर इन्हें आप उत्साहित करेंगे तो ये बहुत कुछ कर दिखायेंगे। आप सभापति बन जाया कीजिये—ये लोग और सब कुछ कर लेंगे। डाक्टर साहब ने ऐसा करने का वचन दिया। विद्यार्थी जी इसके बाद से हर राजनैतिक काम में डाक्टर साहब को खींचने लगे और डाक्टर साहब तभी से राजनीति में अधिक भाग लेने लगे।'' विद्यार्थी जी न केवल डाक्टर साहब को ही बल्कि दूसरे कार्यकर्त्ताओं को भी सार्वजनिक क्षेत्र में खींच कर कानपुर के सार्वजनिक जीवन में नवजीवन उत्पन्न करने लगे।

विद्यार्थी जी मनोविज्ञान के अच्छे ज्ञाता और मनुष्यों के चतुर पारखी थे। भले, बुरे और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को पहचानते उन्हें देर नहीं लगती थी। फल-स्वरूप जहाँ कहीं भी कोई होनहार और प्रतिभाशाली नवयुवक दिखाई पड़ता, चट उसे आगे बढ़ने, अपना जीवन सुधारने, उन्नतिशील बनाने के लिये प्रोत्साहित करते। न केवल कानपुर में ही, बल्कि युक्त प्रान्त भर में

अनेक नौजवानों ने उनसे राष्ट्रीय स्फूर्ति प्राप्त की और अपने जीवन का एक मुख्य काम राष्ट्र-सेवा भी बनाया। कानपुर के विभिन्न क्षेत्रों में जो आज अनेक आदमी काम करते नजर आते हैं, यह सब विद्यार्थी जी की ही लगन और तपस्या का फल है। विद्यार्थी जी बिलकुल सादगी से रहते, पर विचार बराबर ऊँचे रखते थे। कार्यकर्त्ताओं और नौजवानों के विशेष रूप से उनकी ओर आकर्षित और उनसे प्रभावित होने का एक मुख्य कारण उनका आडम्बर-शून्य सादा रहन-सहन भी था। दूसरी बात थी उनकी व्यावहारिकता, सहृदयता और मिलनसारी। जो भी उनके सम्पर्क में आता, उसे वे अपना लेते और हर प्रकार से उसका हित-चिन्तन करते थे। वे जो कुछ कहते, उसे हृदय से अनुभव करते तथा उसके अनुसार कार्य करने के लिये बराबर तत्पर देखे जाते। किसी भी बड़े काम में वे पीछे हटते नहीं दिखलाई पड़े; कर्त्तव्य-पालन और देश-सेवा के लिये कभी किसी तकलीफ की उन्होंने पर्वा नहीं की। धीरे-धीरे न केवल कानपुर में ही, बल्कि युक्तप्रान्त भर में एक 'प्रताप'-परिवार सा कायम हो गया। उनके इस प्रकार के त्याग, उत्साह, लगन, देश-प्रेम और व्यावहारिकता को देख कर कानपुर के अनेक धनी-मानी व्यक्ति भी उनके भक्त बन गये तथा उनकी सलाह के अनुसार सत्कार्यों में बराबर धन से मदद देने लगे। विद्यार्थी जी का कानपुर वालों पर कितना प्रभाव था, यह १९२६ ई० के कौंसिल-चुनाव के समय खूब स्पष्ट हो गया। उनकी बिलकुल इच्छा न होते हुए भी कांग्रेस तथा मित्रों ने बहुत दबाव डाल कर विद्यार्थी जी को

श्री चुन्नीलाल जी गर्ग जैसे करोड़पति के मुकाबले में प्रान्तीय कौंसिल की मेम्बरी के लिये खड़ा कर दिया। गर्ग जी ने रुपया पानी की तरह बहाया। लगभग एक लाख रुपया खर्च कर डाला; फिर भी उनको करारी हार हुई। विद्यार्थी जी ४००० अधिक वोटों से चुनाव में सफल हुए। उन दिनों कानपुर में चुनाव का तूफ़ान-सा उठा हुआ था, पर विद्यार्थी जी गम्भीर सागर की तरह निश्चल और निश्चिन्त थे। विद्यार्थी जी की तरफ से भी करीब २० हजार रुपये खर्च हुए; परन्तु यह सारी रकम उनके मित्रों ने ही दी। उस समय यह साफ़-साफ जाहिर हो गया कि रुपये का महत्व निःस्वार्थ देश-सेवा और त्याग के सामने कुछ भी नहीं है। पाठकों को यह आश्चर्य हो सकता है कि विद्यार्थी जी जैसे रचनात्मक कार्य-प्रेमी व्यक्ति कौंसिल के माया-जाल में कैसे फँसे? इस सम्बन्ध में ऊपर तो यह बतलाया ही जा चुका है कि कांग्रेस और मित्रों के दबाव से उन्हें इधर मुड़ना पड़ा था, यहाँ इस सम्बन्ध में उनके एक पत्र को उद्धृत कर देने से स्थिति और साफ हो जायगी। 'विशाल-भारत'-सम्पादक पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने उनसे पूछा था कि आप जैसे व्यावहारिक और सर्व-साधारण के जैसे विचार रखने वाले आदमी चुनाव के दल-दल में कैसे फँस रहे हैं। विद्यार्थी जी ने उस पत्र का इस प्रकार उत्तर दिया था :—

'प्रियचतुर्वेदी जी, वन्दे।

आपका कृपा पत्र मिला। मैं गत सप्ताह से छुट्टी पर हूँ, इस-

लिए, आपके पत्र का उत्तर तुरन्त न दे सका। आपने जो शंका प्रकट की है, वह ठीक है। मैं कौंसिल में जाना लाभदायक नहीं समझता। वहाँ का वायुमंडल बहुत विषैला है और कौंसिल से देश या साधारण आदमियों को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त मैं यह भी देख रहा हूँ कि हममें से जो लोग कौंसिल में जायँगे, उनकी और अधिक ख्वारी होगी, अ र वे और भी नीचे जायँगे। कानपुर-कांग्रेस ने अपने ऊपर इलेक्शन का काम ले कर देश को बहुत हानि पहुँचाई। मैं कौंसिल में क़तई नहीं जाना चाहता। अपना सौभाग्य समझूँगा, यदि इसकी छूत से बचा रहूँ। यहाँ का हाल यह है कि कानपुर में जान तो है और लोग साहस और जोश के भी हैं, किन्तु उनके पास कौंसिल-युद्ध के लिए उपयुक्त बलिदान नहीं है। डा० मुरालीलाल और डा० जवाहरलाल डेढ़-डेढ़ वर्ष के लिये सज़ायाब होने के कारण खड़े नहीं हो सकते। अब उनके लिए मैं ही एक आदमी ऐसा दिखाई देता हूँ, जिसे ले कर वे कानपुर के एक ऐसे आदमी के मुक़ाबले में सफलता की आशा करते हैं, जो लाट साहब से हाथ मिलाने की ख्वाहिश पूरी करने के लिए ५०,०००) रुपया खर्च करने के लिये तैयार है और जो रुपये के बल पर कान्पुर के वोटों को अपने हाथों में करने का दम भरता है। कांग्रेस-कमेटी ने एक मत से मेरा नाम रखा। मैंने इसका विरोध किया। हम दो विरोधी थे—मैं और बालकृष्ण। उसके बाद, यह बात प्रान्तिक कमेटी की कौंसिल के सामने गई। मैंने वहाँ स्पष्ट रूप से लिख कर भेजा कि मुझे माफ कीजिए, किन्तु इस विनय

पर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया, और वहाँ भी मेरा नाम रख दिया गया। उसी को आपने पत्रों में देखा है। इसके बाद अब घरेलू युद्ध फिर छिड़ा हुआ है। मैं प्राण बचाता हूँ, किन्तु देवी की उपासना करने वाले बलिदान के लिये मुझे पकड़ते फिर रहे हैं। मैंने अन्तिम निर्णय के लिये दस दिन की मोहलत माँग ली है, जो १० जून को समाप्त होगी। मेरे सामने विचारने की यह बात है कि यदि मैं बलिदान होने के लिये राज़ी नहीं होता, तो यहाँ के पुराने कार्यकर्ता कांग्रेस से इस्तीफा दे देंगे, क्योंकि वे कांग्रेस में रहते हुए कांग्रेस की प्रतिष्ठा जाते हुए नहीं देखना चाहते। बार-बार कांग्रेस की प्रतिष्ठा की दुहाई दी जा रही है। मैं यह बात पेश कर रहा हूँ कि मैं अपरिवर्तनवादी न होते हुए भी, कौंसिल की उपयोगिता पर विश्वास नहीं करता और यह समझता हूँ कि जो बहुत साधारण-सा अन्तर इस समय स्वराजियों, प्रतिसहयोगियों और नेशनल पार्टी में दिखाई दे रहा है, वह इलेक्शन के बाद न रह जायगा। मैं यह भी कहता हूँ कि मैं हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े का मूल कारण इलेक्शन आदि को समझता हूँ, और कौंसिल में जाने के बाद आदमी देश और जनता के काम का नहीं रहता। मैंने कुछ बाहरी मित्रों से राय माँगी है। आप भी अपनी राय देने की कृपा करें।

१० जून तक कुछ निर्णय कर सकूँगा। चतुर्वेदी जी, इस संकट में मैं आप ऐसे मित्रों की समवेदना का अधिकारी हूँ। मैं अपने सहयोगियों से शुष्क व्यवहार इसलिए भी नहीं कर सकता कि

हमारे आपस के सम्बन्ध बहुत कोमल रहे हैं। आशा है, आप सानन्द होंगे।

आपका—

ग० श० विद्यार्थी।'

विद्यार्थी जी ने कानपुर के राजनैतिक जीवन को सोंच कर इतना बड़ा कर दिया कि वह आज लहलहा रहा है और प्रान्त भर में उसके फल-फूल की प्रशंसा है। युक्त प्रान्त के शहरों में इसके मुकाबले की राजनैतिक जागृति वाले शहर दो हो एक हैं। १९२०-२१ के असहयोग-आन्दोलन को लीजिये या १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन को, कानपुर को आप सबसे आगे पायेंगे। झण्डा-सत्याग्रह के समय यहाँ वालों ने पतंगों की ऐसी कमाल की कलाबाज़ी दिखलाई कि दुश्मनों के छक्के छूट गये। जेल जाने वालों का ऐसा ताँता बँधा कि नौकरशाही की नाक में दम हो गया। तात्पर्य यह कि यहाँ के राजनैतिक और सामाजिक जीवन को विद्यार्थी जी ने बहुत ठोस और दृढ़ बना दिया था। १९२५ ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस का अधिवेशन कानपुर में हुआ। महासभा का यह अधिवेशन इतनी धूम और सफलता के साथ हुआ कि सबों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। यह सब कुछ एक मात्र उसी अमर शहीद के त्याग, तपस्या और लगन का फल था। स्वयं काम करने वाले तो बहुत होते हैं, पर तारीफ तो इसमें है कि वह व्यक्ति अपने आस-पास सच्चे और निःस्वार्थ कार्यकर्त्ताओं का एक दल तैयार कर ले, जो इशारे मात्र में चाहे जो काम हो,कर दिखावें।

किसानों और मजदूरों के बीच

"शिक्षित लोगों को सेवा भाव से नम्रता पूर्वक देहात में प्रवेश करके लोगों की हालत जाननी चाहिये। ऐसा करने में बहुतेरे बीमार पड़ेंगे और कितने ही मर भी जावेंगे। पर जब हम यह सहन करना सीखेंगे, तभी इसका उपाय हमें मिलेगा, तभी लोग उस उपाय को पहचानेंगे और उसका स्वागत करेंगे। हम जब तक देहात में प्रवेश नहीं करेंगे, हिन्दुस्तान की हालत को नहीं जान सकेंगे।"

— गान्धी जी

देश में ऐसे नेताओं की कमी नहीं है, जो ग्राम-संगठन और मजदूर-संगठन के काम की महत्ता को अच्छी तरह महसूस न करते हों; पर उनमें कितने ऐसे नेता हैं जो हृदय से ग्रामीणों और मजदूरों की महा शोचनीय अवस्था को अनुभव करते हैं और उनको उस दुरवस्था से निकालने के लिये दरअसल कुछ करते हैं? गान्धी जी के सिवा ऐसे नेता नहीं के बराबर हैं। पर विद्यार्थी जी ऐसे नेता न थे; वे जिस बात को हृदय से महसूस करते थे, उसे कार्य-रूप में परिणत भी कर दिखाते थे। देश के तमाम किसान और मजदूरों का उत्थान हो, उन्हें भर-पेट खाने को अन्न और अच्छी तरह से लज्जा-निवारण के लिये वस्त्र मिलें, वे सत्ताधारियों के आये-दिन होने वाले अत्याचारों और उनकी ज्यादतियों से बचें, विद्यार्थी जी 'प्रताप' द्वारा अथवा यों भी जहाँ जब मौका लगता इसके लिये उद्योग करते रहते थे।

आगे चल कर उन्होंने यह भी सोचा कि इस प्रकार काम करने की अपेक्षा अगर एक जगह को केन्द्र बना कर वहीं गहराई और लगन से काम किया जाय तो वह और अधिक लाभप्रद और महत्व-पूर्ण होगा। इस उद्देश्य से उन्होंने कानपुर से कुछ मील दूर पूरब, उसी जिले के नरवल नामक ग्राम को इसके लिये चुना तथा १९२९ ई० में वहाँ एक सेवाश्रम की स्थापना कर ग्राम-संगठन का काम शुरू कर दिया। पाठशाला, पुस्तकालय, आदि खोले गये; चर्खे चलने लगे तथा खद्दर भी तैयार होने लगा। विद्यार्थी जी प्रायः हर शनिवार को वहाँ चले जाते और रविवार को दिन भर वहीं रहते। कभी सोमवार को प्रातःकाल और कभी रविवार की शाम को लौटते। वहाँ पर आसपास के ग्रामीण तथा कार्यकर्त्ता आते, सभाएँ होतीं, ग्रामीणों की दशा सुधारने की बात सोची जाती, उन्हें अत्याचारों और अन्यायों का मुक़ाबिला निर्भीकता और बहा-दुरी के साथ करने की बात बतलाई जाती। धीरे धीरे उन्होंने यह काम बढ़ाया और आसपास के लगभग २०० गाँवों में संगठन का काम होने लगा। विद्यार्थी जी के प्रभावशाली जीवन और सराह-नीय काम का प्रभाव शीघ्र ही दीखता नज़र आया। लोग आकृष्ट होने और इस शुभ कार्य में योग देने लगे। सेवाश्रम का जो भी ख़र्च होता विद्यार्थी जी शहर के मित्रों से ले कर अथवा अपने पास से खर्च करते, वहाँ वालों से कुछ भी नहीं लेते थे। साल, सवा साल के अन्दर ही नरवल के आसपास के ग्रामीणों में एक ख़ास जागृति पैदा हो गई, उनमें अपने हकों के लिये लड़ने और अन्यायों

का विरोध करने की भावना उठ खड़ी हुई। विद्यार्थी जी की निष्काम सेवा ने उन्हें बहुत ही मुग्ध और प्रभावित कर लिया। शीघ्र ही परीक्षा का मौका आया। सत्याग्रह-संग्राम छिड़ा और नरवल सेवाश्रम केन्द्र से सम्बद्ध ग्राम-निवासी भाइयों ने अपने को खरा साबित कर दिखाया। इधर विद्यार्थी जी जेल गये, उधर नरवल केन्द्र के भी सैकड़ों आदमियों ने अपने परम सम्मानित नेता का अनुसरण कर जेल भरना शुरू कर दिया। नरवल वालों के लिये विद्यार्थी जी की इच्छा और आज्ञा ही कानून थी। बड़े बड़ों की भी हिम्मत न पड़ती थी कि वे उनके सामने आ सकें। नरवल में आये-दिन होने वाले कितने ही अत्याचारों को उन्होंने समूल नष्ट कर दिया। नरवल से उन्हें बड़ा प्रेम था और सेवाश्रम उनकी परम प्रिय संस्था हो गई थी। नरवल पहुँच कर वे प्रायः आसपास के गावों में पैदल घूमा करते और ग़रीब किसानों के पास बैठ कर घंटों बातचीत किया करते। नरवल के बुजुर्गों, बच्चों अथवा नौजवानों के साथ इस प्रकार हिलमिल जाते और ऐसा व्यवहार करते, मानो कोई अपने ही गाँव और घर का आदमी हो। कभी-कभी ऐसा भी होता कि वे वहाँ वालों को कानपुर बुला लेते और वहीं उनकी समस्याएँ सुलझाया करते।

विराम-सन्धि के बाद जब वहाँ वाले भी और विद्यार्थी जी भी जेल से लौट के आये तो वहाँ एक राष्ट्रीय मेला लगा। वहाँ के आसपास के बीस बीस मील के लोग विद्यार्थी जी के दर्शनों के लिये आये। इधर कानपुर से विद्यार्थी जी अपनी जमात के साथ

पहुँचे। इस अवसर पर एक बड़ी मजेदार घटना घटी। विद्यार्थी जी नरवल की हर एक गली से घूम कर लोगों से मिले। भूल से, एक रास्ते से निकलना रह गया। उस गली में एक बुढ़िया हलवाइन रहती थी। उसे यह बड़ा बुरा लगा कि विद्यार्थी जी इधर से क्यों नहीं गुजरे। विद्यार्थी जी के कानों तक यह बात पहुँचने के पहले ही ऐसा संयोग हुआ कि भोजन करने के लिये वे उसी रास्ते से जाने लगे। बुढ़िया ने उन्हें देखते ही ४—५ सेर बताशों से भरा बर्तन उनके सर पर उँड़ेल दिया। पुष्प-वर्षा तो सबने सुनी और देखी थी; पर उस दिन इस प्रकार बताशा-वर्षा भी लोगों को देखने को मिली। बुढ़िया ने बताशा-वर्षा करके अपने को धन्य माना!

विद्यार्थी जी ने इस आश्रम को पूर्ण संगठित और स्थायी बनाने का निश्चय कर लिया था। यही नहीं, बल्कि यहाँ पर अपने रहने के लिये वे घर बनवाने का भी निश्चय कर चुके थे। कहते थे, अपने अन्तिम दिन इसी एकान्त स्थान में बिताऊँगा और किताबें लिखा करूँगा। पर कौन जानता था कि इसके पहले ही वे चल बसेंगे! आश्रम का काम अब भी चल रहा है और विद्यार्थी जी के ज्येष्ठ पुत्र भाई हरिशंकर जी विद्यार्थी अपने पूज्य पिता की जगह उसकी कार्यकारिणी के अध्यक्ष चुने गये हैं। आशा है, विद्यार्थी जी के पुनीत हाथों से आरम्भ किया हुआ यह काम दिनों-दिन उन्नति करता जायगा।

जिस प्रकार ग्रामीण भाइयों के बीच काम करने के लिये,

उनकी उन्नति और दशा-सुधार के लिये विद्यार्थी जी ने नरवल को केन्द्र बनाया था, उसी प्रकार मज़दूरों में काम करने का उनका केन्द्र ख़ास कानपुर था। यों तो १९१६-१७ ई० से ही वे कानपुर के मजदूरों की दशा सुधारने और उनके कष्टों के दूर करने के लिये लगे रहते थे, परन्तु पिछले ४-५ वर्षों से उन्होंने इस तरफ़ विशेष-रूप से ध्यान दे रखा था। स्थानीय मजदूर सभा के वे १९२७ ई० से लेकर अन्तिम समय तक अध्यक्ष थे। उनके काम करने और सहारा देने से मजदूर सभा की शक्ति इधर बहुत बढ़ गई है और मिल-मालिकों को उसकी बातों को मानने के लिये मजबूर होना पड़ता है। विद्यार्थी जी के विशेष उद्योग और मदद से मजदूर सभा की ओर से 'मजदूर' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकलना शुरू हुआ था। वह अब भी निकल रहा है। इसके द्वारा मजदूरों की शिकायतों और कष्टों को दूर करने का आन्दोलन किया जाता है।

कानपुर में लगभग ४०-५० हज़ार मजदूर रहते हैं। उनकी दशा बड़ी दयनीय है। जिस प्रकार बम्बई में उनके रहने और खाने-पीने की सुव्यवस्था नहीं है, वही हाल यहाँ का भी है। बेचारों से दिन भर काम लिया जाता है, फिर भी इतनी मजदूरी नहीं मिलती कि वे अपना तथा अपने बाल-बच्चों का पेट भर सकें और तन ढाँक सकें। रहने के लिये पशुओं के रहने की कोठरी से भी बदतर एक एक कोठरी में पाँच-पाँच सात-सात व्यक्ति मजबूरन रहते हैं। न उन्हें अच्छी हवा मिलती है और न साफ़ रोशनी। उनके मोहल्लों

और सड़कों की सफ़ाई का भी कुछ ख्याल नहीं किया जाता। वे मनुष्य हो कर भी पशु की तरह अपना जीवन बिताते हैं। विद्यार्थी जी का दयालु और दूसरों की तकलीफों को देख कर तड़प उठने वाला हृदय इन लोगों की ऐसी दुर्दशा को कैसे देख सकता था? यही कारण है कि वे यहाँ के मजदूरों की सेवा भी बड़ी लगन और मुस्तैदी से करते रहे। किसानों और मजदूरों के सम्बन्ध में विद्यार्थी जी के जो विचार थे, वे उन्हींके शब्दों में नीचे दिये जाते हैं—

"हम लोगों को कागजी-स्वराज्य-मसविदा बनाने के झंझट में न पड़ कर सीधे गाँवों की ओर मुड़ना चाहिये। हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य दूर करने का एक मात्र यही तरीका है कि ग्राम-संगठन के काम को हाथ में ले कर बिना भेद भाव के भारत के दीन किसानों की सेवा की जाय। उसी तरह शहरों की मिलों में काम करने वाले लाखों मजदूरों के संगठन की भी आवश्यकता है। किसान और मजदूरों का युग आ गया है। थोथी राजनीति से अब काम न चलेगा।"

"भविष्य किसानों और मजदूरों के हाथ में है। जो संस्था भविष्य में कृषक-मजदूर-सेवा से वंचित रहेगी, वह शक्ति-हीन और निकम्मी सिद्ध होगी।"

पत्रकार विद्यार्थी जी

"समाचार पत्रों का संचालन सेवा भाव ही से होना चाहिये। समाचार पत्र एक भारी शक्ति है ; परन्तु जिस प्रकार एक निरंकुश जल-प्रवाह पृथ्वी के कई भागों को डुबो देता है और फसल को नष्टभ्रष्ट कर देता है, उसी प्रकार निरंकुश (पत्रकार) की कलम की धारा भी सत्यानाश कर देती है। यह अंकुश यदि बाहरी हो तो वह इस निरंकुशता से भी अधिक जहरीला साबित होता है। अतः लाभदायक तो अन्दर का ही अंकुश हो सकता है।"

—गान्धी जी

विद्यार्थी जी अपनी जिन्दगी भर राजनैतिक और सामाजिक कामों में लगे रहे। उनका राजनैतिक और सामाजिक जीवन बहुत उज्ज्वल था ; परन्तु इसके साथ ही उनका साहित्यिक जीवन—सम्पादकीय जीवन—उससे भी अधिक तेजोमय और आदर्श था। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि वे बने या बनाये हुए सम्पादक नहीं थे, जन्मजात पत्रकार थे ; जन्म से ही वे सम्पादकीय विभूति से विभूषित थे। सम्पादक किन गुणों की विशेषता से पूर्ण सफलता प्राप्त करता है, इसे न केवल वह अच्छी तरह जानते ही थे, बल्कि उसके अनुसार आचरण भी करते थे। पत्रकार कला की उनकी जैसी निपुणता हिन्दी पत्रकार-जगत् में शायद ही कहीं दिखाई पड़ती हो। पत्रकार का सबसे बड़ा गुण अपने पाठकों की मनोवृत्ति को देखते हुए उन्हें सुरुचि-पूर्ण और उनके

हृदय में बैठ जाने वाली बात कहना है। विद्यार्थी जी इस कला के पूर्ण परिडत थे और वे इस बात का बहुत ख्याल रखते थे कि 'प्रताप' में कोई ऐसी चीज न प्रकाशित हो, जो उसके पाठक अच्छी तरह समझ ही न पावें और जिससे उनकी रुचि बिगड़ती हो। कई दफे ऐसा मौका आया कि हम लोग लेख और कविताएँ, खासकर कविताएँ, सम्पादित करके उनके पास ले गये, कम्पोज होने के लिये देने के पहले प्रायः सब मैटर वे एक बार देख लेते थे, और उन्होंने उनमें जिसे क्लिष्ट देखा, देने से रोक दिया। एक दफे हमारे एक सहकारी मित्र ने एक कविता प्रकाशनार्थ देनी चाही। नियमानुसार विद्यार्थी जी ने सब मैटर के साथ उस कविता को भी देखा। उन्होंने उस कविता का अर्थ उन महाशय से पूछा। वे कुछ सन्तोषजनक अर्थ बतला न सके। उन्होंने उसे निकाल कर उसकी जगह दूसरी कविता देने को कहा। भाई बालकृष्ण जी को उस कविता का अर्थ मालूम था। कविता वास्तव में थी भी अच्छी ; अतः उन्होंने उसे देने पर जोर दिया। विद्यार्थी जी ने उत्तर दिया, भाई, जिस कविता को हम लोग नहीं समझते, उसको हमारे अधिकांश पाठक नहीं समझ सकते। ऐसी कविता अच्छी होने पर भी, हमारे किस मतलब की ?

'प्रताप' की भाषा के सम्बन्ध में वे बराबर इस बात की ताक़ीद करते थे कि उसमें ऐसी भाषा का प्रयोग हो, भाव ऐसे हों, जो पाठक सहज ही भली भांति समझ जायँ। विद्यार्थी जी अपने ढङ्ग के अकेले हिन्दी लेखक और पत्रकार थे। अध्यापक रामरत्न जी ने

एक बार हिन्दुस्तानी एकेडेमी (यू० पी०) में भाषण देते हुए विद्यार्थी जी की भाषा के सम्बन्ध में कहा था :—"आप लोग हिन्दुस्तानी ज़बान की सृष्टि कर रहे हैं ; पर क्या आपको मालूम है कि ज़बान की सृष्टि हो चुकी है और उसका सिरजनहार है गणेशशंकर विद्यार्थी ! अगर आपको मेरी बात का यक़ीन न हो तो आप एक बार 'प्रताप' में लिखे गणेश जी के लेखों को पढ़ जाइये। आप शुद्ध हिन्दुस्तानी ज़बान उन लेखों में पढ़ कर आनन्द-मग्न हो जायँगे।" वास्तव में विद्यार्थी जी हिन्दोस्तानी भाषा के आद्य आचार्य थे। वे जो कुछ लिखते थे, उसमें अपना हृदय निकाल कर रख देते थे ; अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ को लिपि-बद्ध कर देते थे। उनकी लेखनी में एक अजीब मनोमुग्धकारिणी शक्ति थी। बिलकुल साधारण, बोलचाल की भाषा लिखते, ठेठ से ठेठ शब्द इस्तेमाल करते, परन्तु उनकी रचना इतनी सुन्दर होती, उनमें ऐसे सुन्दर भाव-माणिक पिरोये जाते, उनमें ऐसे नये नये शब्द, ऐसे चुभते हुये मुहावरे इस्तेमाल होते, ऐसी लोच-भरी शैली होती, वर्णन का ढंग इतना मनोहारी होता, और होता उनमें ऐसा ओज, कि उनकी लिखी हुई लकीरें पाठकों के हृदय पर बिजली की सी रेखा करती चली जाती थीं। पढ़ने वाला बाग़ बाग़ हो जाता। उनकी भाषा उनकी अपनी चीज़ थी। हिन्दी में वैसी भाषा लिखने वाले, वैसे प्रतिभाशाली लेखक, मुश्किल से दो एक निकलेंगे।

अपने उत्तरदायित्व का—खासकर 'प्रताप' जैसे प्रभावशाली

पत्र में प्रकाशित समाचार और लेखों के सम्बन्ध के उत्तरदायित्व का—उन्हें बड़ा खयाल रहता था। एक क्षण के लिये भी वे यह गवारा न कर सकते थे कि कोई मजमून बिना काफ़ी जाँच-पड़ताल या छानबीन के प्रकाशित हो जाय। जब किसी अनजान संवाद-दाता का कोई महत्त्वपूर्ण पत्र आता, तब उस स्थान के अपने किसी योग्य मित्र से लिख कर पहले उस बात का निर्णय करा लेते, या यदि कोई ऐसा मित्र उपलब्ध न होता, तो अपने कार्यालय से किसी को भेज कर पूरी तहक़ीक़ात करा लेते, इसके बाद ही उसे प्रकाशित करते थे। इस प्रकार तहक़ीक़ात कर चुकने के बाद वे सत्य और न्याय्य बात के प्रकाशन करने से कभी हिचकते न थे। जाँच के बाद तो वे बड़ी से बड़ी विपत्ति का भी प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करते थे। सम्पादकीय कर्तव्य के इस अंग का प्रतिपालन गणेश जी ने अपना तन-मन-धन—सब कुछ न्यौछावर करके किया। लोक-सेवा का यह कर्तव्य सम्पादक का सबसे बड़ा कर्तव्य है, और गणेश जी ने बड़ी-से-बड़ी कीमत दे कर भी इसका आजन्म पालन किया। इस दिशा में वे लासानी थे। अपनी इसी कर्तव्य-परायणता के कारण उन्हें न-जाने कितनी बार जेल जाना पड़ा, जमानतें देनी और ज़ब्ती करवानी पड़ीं; न-जाने कितने जमींदारों, ओहदेदारों, राजों और महाराजों की नाराज़गी उठानी पड़ी और न जाने क्या-क्या कष्ट सहने पड़े। इस प्रकार के समाचार पा कर लोग अपना उल्लू सीधा करने की ताक में रहते हैं, मगर गणेश जी के उदात्त विचारों में इस प्रकार की गन्दगी कभी नहीं आई।

वे बड़े से बड़े प्रलोभनों पर भी विचलित नहीं हुए। पत्रकार के लिये सब विषयों का ज्ञान प्राप्त करना तथा और भी अधिक से अधिक जानकारी हासिल करने के लिये उत्सुक रहना विशेष गुण समझा जाता है। जिसमें ऐसी जिज्ञासा भावना न हो, समझना चाहिये कि वह सफल पत्रकार नहीं है। विद्यार्थी जी में यह जिज्ञासु-भाव कूट कूट कर भरा था। कहाँ क्या हो रहा है, कौन क्या कर रहा है, किसने कौन सी नई बात निकाली, किस विषय की कौन सी नई पुस्तक निकली, आदि बातें जानने के लिये वे सदा बड़े उत्कंठित रहा करते। ऐसा मालूम होता कि मानो वे यह चाहते हों कि सब बातें सब से पहले उन्हीं को मालूम हों। अख़बार के तो मानो वे कीड़े थे। 'लीडर', 'हिन्दुस्तान टाइम्स', आदि दैनिक पत्र 'प्रताप' प्रेस में ज़रा देर से पहुँचते थे। उतनी देर भी इन्तज़ार करना उनके लिये असह्य हो जाता और प्रायः घूमते हुए स्टेशन चले जाते तथा अख़बार ले कर वहाँ से पढ़ते हुए प्रेस पहुँचते थे। अख़बार आने पर सब काम छोड़ के, यहाँ तक कि अगर खाना खा रहे हों तो उसे भी छोड़ के, वे उसे पढ़ने में जुट जाते थे। दो एक दफ़े ऐसा हुआ कि जिस समय अख़बार आया, हम लोग किसी ज़रूरी काम में लगे रहे; हम लोगों ने सोचा कि इस काम को खतम करके ५-७ मिनट बाद अख़बार देखेंगे। इसी बीच वे आ गये और अखबार उठाते हुए पूछने लगे, 'कोई नई बात है ?' यह उत्तर मिलने पर कि अभी देखा नहीं, कहने लगते, 'कैसे जर्नलिस्ट पत्रकार) तुम लोग हो ? नया पत्र आ कर रखा हुआ है और

उसी दम उठा कर देखने की इच्छा न हुई ?' हम लोग फटकार सुन कर सर नीचा कर लेते।

उनकी इस प्रवृत्ति को देख कर मेरी तो यह धारणा हो गई थी कि उन्हें सरकार को जब कभी कठिन से कठिन सजा देनी हो तो वह उनका अखबार पढ़ना बन्द कर दे, यह उनकी बहुत सख्त सजा हो जायगी। जल-हीन मीन की नाईं वे अखबार बिना तड़-पने लगते।

इसी प्रकार डाक के लिये भी उन्हें बड़ी उत्सुकता रहती थी। बाहर से आने पर वे सीधे प्रेस आते, घर भी नहीं जाते, और सबसे पहला काम जो करते वह डाक देखना था। प्रेस में रहने पर डाक के आते ही अन्य सब काम छोड़ कर उसे देखने लग जाते। 'प्रताप' प्रेस की डाक में दस पाँच चिट्ठियाँ या दो चार अखबार नहीं होते। वह तो पचासों चिट्ठियों और हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी, बँगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, तेलगू आदि के बीसों समाचार पत्रों का एक खासा पुलिन्दा होता है। परन्तु वे सबको देख जाते। उनमें ऐसी परख-शक्ति थी कि निजी चिट्ठियों के अलावा सम्पादकीय और प्रबन्ध विभाग की जितनी मुख्य चिट्ठियाँ होतीं उन सबको वे देख लेते ; जो बच जातीं वे बिलकुल मामूली होतीं। डाक में आये हुए पचीसों समाचार-पत्रों को रोज़ देखना कोई मामूली काम नहीं, परन्तु उनमें हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू के सभी पत्रों को तो वे जरूर ही पढ़ डालते थे। पढ़ने का उन्हें ऐसा अभ्यास हो गया था कि बहुत थोड़े समय में सब

अखबार देख डालते थे। देखने वाले यही समझते कि कुछ पढ़ा नहीं, उलट भर लिया है; परन्तु उतनी ही देर में वे उसे इस प्रकार पढ़ डालते कि कोई भी मुख्य चीज़ उनकी निगाह से गुजरने से बाकी न रह जाती। एक बार बिहार के एक सज्जन की मृत्यु का समाचार 'लीडर' में प्रकाशित 'बिहार की चिट्ठी' के बीच में बड़ी नगण्य जगह पर निकला था। विद्यार्थी जी ने उसे 'प्रताप' में देने को कहा। हम लोग उसे ढूँढ़ने लगे कि कहाँ प्रकाशित हुआ है। सब अखबार ढूँढ़ डाले पर समाचार का कहीं पता न चला। अन्त में जब उनसे पूछा तो मालूम हुआ कि वह 'लीडर' में 'बिहार की चिट्ठी' के बीच में छपा है। इसी प्रकार एक बार एक देशी रियासत के सम्बन्ध में किसी पत्र में एक समाचार छपा। और अखबारों में वह नहीं निकला था। विद्यार्थी जी ने उसे 'प्रताप' में देने को कहा। हम लोगों ने उस अखबार में आदि से अन्त तक दो दफे उस समाचार को ढूँढ़ा, पर वह नहीं मिला। अन्त में जब विद्यार्थी जी ने उसी पत्र में उसे निकाल कर दिखाया तो हम लोग बहुत झेंपे। ऐसे और भी कई मौके आये और हम लोग उनकी सूक्ष्मदर्शिता और स्मरण-शक्ति पर दंग रह गये। सम्पादक के लिये स्मरण-शक्ति का बहुत तीव्र होना अत्यन्त आवश्यक है। विद्यार्थी जी इस शक्ति से पूर्ण सम्पन्न थे। महीनों और वर्षों की छोटी-छोटी बातें भी उन्हें अन्त तक याद थीं।

अंग्रेजी सम्पादन कार्य से हिन्दी सम्पादन कार्य बहुत अधिक कठिन है। अंग्रेजी राज-भाषा होने के कारण अंग्रेजी पत्रों को

बड़ी सुविधायें हैं। तार आये; ए, एन, दि, आफ, आदि जोड़ कर ठीक किया और प्रेस में दे दिया। और भी कुछ काम होते हैं; पर सब बातों को देखते हुये हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी पत्र-सम्पादन कार्य अधिक सरल और सुविधा-जनक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। हिन्दी वालों को सभी चीजों का अनुवाद करना, महा ऊलजलूल तरीके से लम्बी चौड़ी लिख कर आई हुई चिट्ठियों का सम्पादन करना, समाचारों और घटनाओं का सारांश लिखना, और लिखना इस ढंग से कि अर्धशिक्षित हिन्दी भाषा-भाषी जनता अच्छी तरह समझ सके, आदि कारणों से हिन्दी जर्नलिज्म अधिक कठिन है। गांवों के अर्धशिक्षित या अशिक्षित सम्वाददाताओं द्वारा भेजे हुए सम्वादों का सम्पादन करना कितना कठिन कार्य है, इसे भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं। पर विद्यार्थी जी ऐसे पत्रकार थे कि इन सब दिक़्क़तों का मुकाबिला करते और उन्हें कुचलते बराबर आगे बढ़ते गये। सम्वाददाताओं द्वारा भेजे गये सम्वादों के सम्पादन, घटनाओं और समाचारों के चयन, लेखों की काट-छाँट और संकलन तथा सम्पादकीय विचार-प्रदर्शन में वे ऐसे दक्ष थे कि देखते-देखते बड़ी खूबसूरती के साथ सब कर डालते थे। बड़ा से बड़ा लेख उनके सामने ले जाइये, उसका अर्थ कुछ और निकलता हो, परन्तु दो-चार जगहों पर वे कुछ शब्दों की काट-छाँट कर देंगे और उसका अर्थ बिलकुल ही बदला हुआ मिलेगा। अनेक लेखों में ऐसे परिवर्तन करके उसका अर्थ, उसकी आवाज बिलकुल दूसरी करके उसे

अधिक सुन्दर, सुरुचिपूर्ण, प्रभावशाली और स्फूर्तिदायक बनाते लेखक ने उन्हें देखा है। बुद्धि इतनी तीव्र, कि कठिन से कठिन समस्या सुलझाते उन्हें देर न लगती। कोई बात जा कर पूछिये, उसी वक्त वे ऐसा जवाब देते कि मालूम होता मानों पहले से ही उत्तर सोच रखा गया था। एक दफे 'प्रताप' की पृष्ठ-संख्या ३६ से बढ़ा कर ४० की गई। उसके अनुसार विभिन्न पृष्ठों में पाठ्य सामग्री इस प्रकार बैठानी थी कि अन्तिम दिन तक अधिक से अधिक पाठ्य सामग्री देने की सुविधा रहे, साथ ही फार्मों के छपने में भी दिक़्क़त न हो। मैं, भाई बालकृष्ण जी आदि बैठे डेढ़ घण्टे से माथा-पच्ची कर रहे थे, पर कोई ठीक हिसाब बैठता ही नहीं था। इसी बीच वे वहाँ पहुँचे। पूछने पर हम लोगों ने अपनी समस्या पेश की। फिर क्या था, ५ मिनट के अन्दर उन्होंने मनचाहा 'एरेंजमेण्ट' करा दिया। भाई बालकृष्ण जी बोले—'वाह साहब, यह क्या हुआ? सिर्फ़ डेढ़-डेढ़ कालम ही का तो बखेड़ा था, सो आपने उसे दो-दो में करके खत्म कर दिया।' वे हँस कर बोले—'तो तुम ही कर लेते भाई! वह तो कोलम्बस के अण्डा बिठाने वाली बात थी।' भाई बालकृष्ण जी ने कहा—'बेखुरा, क्या अण्डा बिठाया कि सुसरे को तोड़ डाला!' गणेश जी ठहाका मार कर बोले—बालकृष्ण, अभी जाए उस्ताद ख़ाली अस्त! (उस्ताद की जगह ख़ाली है।) हाँ, है, और वह कभी न भरेगी।—इसी प्रकार आकर्षक, पर, संजीदा हेडिंग देने, मैटर को सुन्दरता के साथ सजाने, चित्रों का वांछनीय परिचय लिखने, छोटी छोटी पर चुभती

हुई टिप्पणियाँ लिखने, आदि में उनको कमाल हासिल था। अख-बार उठा कर सरसरी तौर पर एक बार उलट जाते और जितनी ग़लतियाँ उसमें होतीं बतला देते। मालूम होता, मानों पहले से सब उनकी देखी-बूझी थीं। पत्र में सदा सामयिक तथा अप-टु-डेट चीजें दी जायँ, इसका वे बहुत ख्याल रखते। जो चीज़ आज दी जा सकती है, उसे कल के लिये कदापि न छोड़ते। वे ऐसे मँझे हुए और आला दर्जे के अख़बार-नवीस थे।

आजकल हिन्दी के लेखकों और पत्रकारों की जो शोचनीय अवस्था है, भुक्तभोगी लेखकों और पत्रकारों के सिवा और कोई नहीं जान सकता। बेचारों की आर्थिक अवस्था प्रायः इतनी खराब होती है कि घर-गृहस्थी का खर्च चलाना भी मुश्किल होता है। हिन्दी साहित्य-संसार में यह एक बड़े लांछन और शर्म की बात है कि उसके पत्रकार और लेखकों की कुछ भी कदर नहीं होती; न उन्हें आर्थिक सहायता ही मिलती है और न किसी प्रकार की सहानुभूति और प्रोत्साहन ही। हिन्दी में आज जितनी भी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, उनके प्रकाशक, संचालक और प्रधान सम्पादक—जो प्रायः स्वयं ही संचालक या प्रकाशक भी होते हैं—यही चाहते हैं कि भरसक बिना कोई पुरस्कार दिये, बिना मेहनताना अदा किये ही उन्हें लेख मिला करें और उनके यहाँ काम करने के लिये जो पत्रकार रखे जायँ, कम से कम रुपये पर रखे जायँ। वे इतना भी सोचने का कष्ट नहीं करते कि जिस शख्स ने अपना समय और शक्ति खर्च करके इस लेख को

लिखा है, अगर उसे दिया नहीं जायगा, तो वह खायगा कहाँ से ? जहाँ तक मालूम है, हिन्दी में 'प्रताप' के सिवा मुश्किल से दो एक साप्ताहिक-पत्र ऐसे निकलेंगे, जो अपने लेखकों को पुरस्कार देते हों। और दैनिक तो एक भी ऐसा नहीं, जो अपने लेखकों को कुछ भी देता हो। इधर कुछ मासिक-पत्रिकाएँ ऐसी निकली हैं, जो कुछ ख़ास-ख़ास लेखकों को कुछ पुरस्कार देती हैं, पर जो रकम मिलती है, वह बहुत कम—बिलकुल नगण्य सी होती है। कुछ सम्पन्न और धनी पत्रकार अपने लेख बिना कुछ लिये ही दे देते हैं। इससे प्रकाशकों और बड़े पत्रकारों के मिजाज़ और बढ़ जाते हैं और वे साधारण तथा अर्थहीन पत्रकारों की बड़ी उपेक्षा करते हैं। ऐसी दशा में बेचारा पत्रकार अपने भाग्य को कोसता रह जाता है। विद्यार्थी जी ऐसे पत्रकार न थे। संयोग-वश वे 'प्रताप' के संचालक और प्रधान सम्पादक दोनों ही थे। फिर भी अपने सहकारियों तथा सहयोगी पत्रकारों का सदा ख्याल रखते थे। अपने संकट-ग्रस्त पत्रकार-बन्धुओं की बराबर सहायता करते और वह भी इस प्रकार कि उनके आत्म-सम्मान को किसी भी प्रकार ठेस न लगने पावे। इस सम्बन्ध में विद्यार्थी जी के एक पत्र का हवाला देना अप्रासंगिक न होगा। आज से ११ वर्ष पहले की बात है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध पत्रकार आर्थिक संकट में पड़े थे। उनसे विद्यार्थी जी की घनिष्टता थी। उन्होंने अपने सम्बन्ध में विद्यार्थी जी को लिखा। विद्यार्थी जी ने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया :—

१९—११—३०

प्रियवर......

वन्दे। आपका कृपा-पत्र प्राप्त हुआ।........आपने जो कुछ लिखा, वह मुझे हृदय से स्वीकार है। 'प्रताप' आपका है। आप वैसे कहें, तो 'प्रताप' की सारी शक्तियाँ आपके चरणों में अर्पित हो जायँ। Charity की बात नहीं; ऐसी आत्माओं के कुछ भी काम आना सौभाग्य है, अपने काम का पोषण है, लक्ष्य-सिद्धि की ओर बढ़ना है। दैनिक 'प्रताप' २० ता० से निकलने लगेगा। आप उसके लिये छोटे-छोटे लेख लिखें। मैं समझता हूँ कि बड़े लेख कम पढ़े जाते हैं। एक अंक में एक बात पूरी हो जाय। आप हर मास १०—१२—१५ तक ऐसे लेख दें। आपकी जो आज्ञा होगी, 'प्रताप' उसे आपके चरणों में रखेगा।

हमने अभी यह तय किया है कि जिन लेखकों से हम दैनिक में लिखवावेंगे, उन्हें एक रुपया फ़ी कालम देंगे; परन्तु आपके लिये आपकी आज्ञा हमें मान्य होगी। योग्य सेवा का आदेश दें।

आपका—

ग० श० विद्यार्थी।

महीने में २५-२६ दिन निकलने वाले दैनिक पत्र में १०-१२-१५ लेख छापने का वचन देना और साथ ही यह भी कह देना कि अपने लेख का मूल्य भी अपनी इच्छानुसार लगा लो; कितनी भारी सहायता, कैसी सहृदयता थी। कुछ दिनों तक इन महाशय को

'प्रताप' ५) प्रति पृष्ठ के हिसाब से पुरस्कार देता रहा। एक दफ़े विद्यार्थी जी को अपने एक दूसरे पत्रकार-बन्धु की आर्थिक दुरवस्था का पता चला। उन्हें यह भी मालूम हुआ कि वह शख्स सिर्फ संकोच के कारण मेरे पास नहीं लिखता। बस, बिना पूछे उन्होंने तुरन्त उनके पास ५०) का मनीआर्डर भेज दिया और लिखा—"तुम भी अजीब आदमी हो, भला अपनों से इतना संकोच ? हमें रूखी-सूखी खाने को मिलती है, तो हम-तुम बाँट कर खा लेंगे।" एक दफ़े एक दूसरे मित्र को अपने घरेलू कार्य के लिये दो सौ रुपयों की ज़रूरत थी। कहीं से रुपये का प्रबन्ध नहीं हो रहा था। वे महाशय विद्यार्थी जी के पास गये, पर दुर्भाग्य-वश उस दिन 'प्रताप'-कार्यालय में भी रुपया न था। विद्यार्थी जी ने तुरन्त एक दूकान से अपनी ज़िम्मेदारी पर रुपये ले कर उन्हें दे दिये। एक साहब 'प्रताप' के सम्पादकीय विभाग में काम करते थे। अध्ययन कम ही किया था, इसलिये उनका एक साल तक 'प्रताप' का काम छोड़ कर पढ़ने में ही अपना समय लगाने का विचार हुआ। परन्तु उनकी आर्थिक दशा ऐसी न थी कि वे अपना खर्च संभाल सकते। विद्यार्थी जी ने उन्हें ३०) मासिक दे कर पढ़ने को कह दिया और कहा कि हफ्ते में आप 'प्रताप' को सिर्फ एक पृष्ठ का मैटर दे दिया कीजिये। देश में कितने ऐसे पत्रकार हैं, जो अपने सहकारियों और छुटभइये पत्रकारों के लिये अपनी सहायता का हाथ इस प्रकार बढ़ाते हैं, उन्हें प्रोत्साहन देते और उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं ?

पत्रकार-कला के सम्बन्ध में विद्यार्थी जी के निम्नलिखित विचार पत्रकारों के मनन करने लायक हैं:—

"......संसार के अधिकांश समाचार-पत्र पैसे कमाने और झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने में उतने ही लगे हुए हैं, जितने कि संसार के बहुत से चरित्र-शून्य व्यक्ति। अधिकांश बड़े समाचार-पत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं। इसी प्रकार के संचालन या किसी दल-विशेष की प्रेरणा ही से उनका निकलना सम्भव है। अपने संचालकों या अपने दल के विरुद्ध सत्य बात कहना तो बहुत दूर की वस्तु है, उनके पक्ष-समर्थन के लिये वे हर तरह के हथकण्डों से काम लेना अपना नित्य का आवश्यक काम समझते हैं। इस काम में, वे इस बात का विचार करना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है? सत्य उनके लिये ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं। संसार-भर में यह हो रहा है। इने-गिने पत्रों को छोड़ कर, सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं। जिन लोगों ने पत्रकार-कला को अपना काम बना रखा है, उनमें बहुत कम ऐसे लोग हैं, जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हों कि हमें सचाई की भी लाज रखनी चाहिये, केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिये दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं है। इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचार-पत्रों और पत्रकारों के लिये यही मार्ग बनता जाता है। हिन्दी पत्रों के सामने भी यही लकीर खिंचती जा रही है। यहाँ भी अब बहुत से समाचार-

पत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिये नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं। एक समय था, इस देश में साधारण आदमी सर्वसाधारण के हितार्थ एक ऊँचा भाव ले कर पत्र निकालता था, और उस पत्र को जीवन-क्षेत्र में स्थान मिल जाया करता था। आज वैसा नहीं हो सकता। आपके पास ज़बरदस्त विचार हों, और पैसा न हो, और पैसे वालों का बल न हो, तो आपके विचार आगे न फैल सकेंगे, आपका पत्र न चल सकेगा। इस देश में भी समाचार-पत्रों का आधार धन हो रहा है। धन ही से वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं, और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत से पत्रकार भी धन ही की अभ्यर्थना करते हैं। अभी यहाँ पूरा अन्धकार नहीं हुआ है, किन्तु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही दिन पश्चात् यहाँ के समाचार पत्र भी मेशीन के सदृश हो जायँगे, और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मेशीन के पुर्जे। व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिये आफतों के बुलाने की चाह न रहेगी; रह जायगा केवल खींची हुई लकीर पर चलना। मैं तो उस अवस्था को अच्छा नहीं कह सकता। ऐसे बड़े होने की अपेक्षा छोटे, और छोटे से भी छोटे, किन्तु कुछ सिद्धान्तों वाले होना कहीं अच्छा। पत्रकार कैसा हो, इस सम्बन्ध में दो राय हैं। एक तो यह कि उसे सत्य या असत्य, न्याय या अन्याय के झगड़े

में नहीं पड़ना चाहिये। एक पत्र में वह नरम बात कहे, तो बिना हिचक दूसरे में वह गरम कह सकता है; जैसा वातावरण देखे, वैसा करे; अपने लिखने की शक्ति से डट कर पैसे कमावे, धर्म और अधर्म के झगड़े में न अपना समय खर्च करे और न अपना दिमाग ही। दूसरी राय यह है कि पत्रकार की अपने समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है; वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है; वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिमाण का विचार रख कर लिखे, और अपनी मति गति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं है, लोक-सेवा उसका ध्येय है; और अपने काम से जो पैसा वह कमाता है, वह ध्येय तक पहुँचाने के लिये एक साधन मात्र है। संसार के पत्रकारों में दो तरह के आदमी हैं। पहले दूसरी तरह के पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति के युग में, पहली तरह के। उन्नति समाचार-पत्रों के आकारों प्रकारों में हुई है। खेद की बात है कि उन्नति आचरणों में नहीं हुई। हिन्दी के समाचार-पत्र भी उन्नति के राजमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। मैं हृदय से चाहता हूँ कि उन्नति उधर हो या न हो, किन्तु कम से कम वे आचरण के क्षेत्र में पीछे न हटें, और जो सज्जन इन पंक्तियों को पढ़ें, वे आचरण सम्बन्धी आदर्श को सदा ऊँचा समझें। पैसे का मोह और बल की तृष्णा भारतवर्ष के किसी भी नये पत्रकार को ऊँचे आचरण के पवित्र आदर्श से बहकने न दे।"

साहित्य-सेवा

"हिन्दी में जो कुछ साहित्य निकलता है, वह प्रायः अनुवाद है। यदि कुछ मौलिक वस्तु निकलती है, तो वह प्रभाव-रहित पाई जाती है। यह कह सकते हैं कि रवीन्द्रनाथ हर जगह पैदा नहीं होते हैं, तुलसीदास करोड़ों में से एक ही होते हैं; परन्तु तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ आदि के पैदा होने के लिये क्षेत्र तो हम सब तैयार कर सकते हैं। नवयुवकों का सच्चा उत्साह ही वह क्षेत्र है।"

— गान्धी जी

विद्यार्थी जी ने अपने राष्ट्रीय कार्यों द्वारा जिस प्रकार युक्त प्रान्त के राजनैतिक जीवन को बहुत उन्नत और प्रगतिशील बनाया, उसी प्रकार उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी की भी बड़ी ही उत्कृष्ट सेवा की। 'प्रताप' के द्वारा उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की, हिन्दी-भाषा के इतिहास में वह सर्वदा उल्लेखनीय रहेगी। उन्होंने 'प्रताप' को मजदूरों और किसानों का पत्र बना कर उसे टूटे-फूटे कमरों तथा गिरती-पड़ती झोपड़ियों तक पहुँचाया और वे उनकी करुण वेदना को देश के वायुमण्डल में गुंजरित करते रहे। लोगों को 'प्रताप' पढ़ने की चाट लगी और केवल इसीलिये न जाने कितने ग्रामीणों ने हिन्दी पढ़ना सीखा। 'प्रताप' के द्वारा उन्होंने कितने आदमियों को लेखक, सम्पादक और कवि बनाया, इसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। 'प्रताप' के द्वारा विद्यार्थी जी ने हिन्दी की गद्य-लेखन-शैली में एक नई धारा प्रवाहित की। आज इस शैली का बहुत से

पत्र और लेखक अनुकरण कर रहे हैं और धीरे-धीरे यही शैली टकसाली हिन्दी के रूप में परिणत होती जा रही है। बोलचाल की मामूली और सीधी-सादी भाषा में और छोटे-छोटे वाक्यों में बातें व्यक्त की जायँ, विद्यार्थी जी इस बात का सदा ख्याल रखते थे; यह उनकी विशेषता थी। लेखनी चलाते वक्त वह अपने भाषा-पाण्डित्य-प्रदर्शन का उतना ख्याल नहीं रखते थे, जितना अपनी बात को पाठकों के हृदय तक पहुँचाने का।

यहाँ उनके बाईस वर्ष की उम्र में लिखे गए एक लेख का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है। उस उम्र में भी उनकी भाषा और भाव-व्यंजना में जो ओज और जो सौष्ठव पाया जाता था, वह इस उद्धरण से प्रकट है। यह लेख 'प्रताप' के सर्व-प्रथम अंक में महाराणा प्रताप के सम्बन्ध में 'भारतीय युवक' के नाम से लिखा गया था :—

"बलिदान—केवल बलिदान—चित्तौड़ की स्वतन्त्रता देवी बलिदान चाहती है। बादल उमड़े थे, बिजलियाँ कड़की थीं, और घोर अन्धकार छा गया था। अपवित्रता पवित्रता पर कब्ज़ा करना चाहती थी और अनाचार, आचार और व्यवहार की ईंट से ईंट बजा देने वाला था। हृदय काँप उठे थे। अशान्ति की लहरें बड़े ज़ोरों में शान्ति के क़िले के कंगूरों को एक एक कर के ढा रही थीं। सूर्य्यदेव भी अपने वंशजों को सदा के अन्धकार में छोड़ देने के लिये तैयार थे। और चित्तौड़ की दीवारें भी ऊँचा सिर रखते हुए नीची नज़र कर चुकी थीं। बेढब बाज़ी लगी थी। पद्मिनी का दाव

था। पांसे उलटे पड़ रहे थे। लेकिन रुख बदला। किसी की दया या कृपा से नहीं, और किसी की कमज़ोरी या नीचता से भी नहीं। रक्त की वर्षा हो गई। रक्त की प्यासी भूमि की प्यास मिट गई। चित्तौड़ की देवियों की राख का ढेर होते देख कर चित्तौड़ की स्वतन्त्रता देवी के हृदय की ताप मिट गई।

"फिर वही दृश्य और फिर वही कार्य्य। समय के पहिये और घूमे, और चित्तौड़ की स्वतन्त्रता देवी ने, दया से या निर्दयता से, फिर अपना खप्पर हाथ में लिया। वीरों ने फिर उसे अपने अमूल्य खून से भर दिया। लेकिन जयमल और उसके वीर साथियों का रक्त उसकी प्यास न बुझा सका। चित्तौड़ की देवियों ने अपने कोमल शरीरों को उसके लिये अग्नि के सुपुर्द किया, लेकिन उन्हें मुट्ठी भर ही खाक में पलट जाते हुए देख कर उसके हृदय की जलन और बढ़ी, और इतनी बढ़ी कि वह स्वयं चित्तौड़ से आगे बढ़ गई। चित्तौड़ खाली हुआ। अकबर का झंडा उस पर फहराने लगा। चित्तौड़ के दरो-दीवार ने आँसू बहाए। हाथ उठा कर उसने अपने कुल-संरक्षक सूर्य्य और गम्भीर आकाश की दुहाइयाँ दीं, लेकिन सूर्य्य से न किसी अग्नि की चिनगारी ने गिर कर इसलामी झंडे को जला दिया और न आकाश की गम्भीरता ही ने उसकी दासता की मात्रा को कम किया। चित्तौड़ की स्वतंत्रता देवी चाहती है, 'बलिदान'।

× × × ×

"उदयसिंह! आगे बढ़ और अपने प्राण उसकी पवित्र वेदी पर

कुरबान कर। लेकिन, अरे! यह क्या? देवी की प्रतिष्ठा करने के लिये उठ कर आगे बढ़ने के बजाय तू पीठ दे कर भागता है! याद रख, तेरी इस भीरुता का फल अच्छा न होगा, और आने वाली सन्तानें बड़ी ही शरम से तेरा नाम लेंगी। सचमुच वह दिन चित्तौड़ के लिये बड़ा ही अभागा था, जिस दिन पन्ना ने तेरे लिये अपने बच्चे के पेट में कटारी घुसने दी। हत्यारे का शिकार तो तुझी को होना था, जिससे फिर चित्तौड़ की लाज का शिकार तू इस निर्लज्जता के साथ न करने पाता। चित्तौड़ ने स्वतन्त्रता के दिन भोगे थे, और अब काल-चक्र तेरी आड़ ले कर उसे परतन्त्रता की सुनहली जंजीर से जकड़ने के लिये आगे बढ़ा है। हे भीरु और पतित आत्मा! चल, आगे बढ़ और दूसरे के लिये स्थान छोड़! ईश्वर के लिये नहीं, देश और जाति के लिये नहीं, जिन्होंने तेरे पूर्वजों की आन-बान कायम रखने के लिये अपने को रण-कुण्ड में आहुति दे दी थी, बल्कि अपनी ही आत्मा की शान्ति के लिये। जा, इस संसार से उठ जा और उस महापुरुष के लिये स्थान खाली कर, जिसके और राणा संग्रामसिंह के बीच में, यदि तूने जन्म लेने का कष्ट न उठाया होता, तो चित्तौड़ को अपनी स्वाधीनता शत्रुओं के हाथ मिट्टी मोल न दे देनी पड़ती।

"आओ, प्रताप, आओ! लेकिन पहले परीक्षा दो! स्वतन्त्रता देवी के पवित्र मन्दिर में उनके लिये स्थान नहीं, जिनके हृदय का स्थान छोटा है। कैसे परीक्षा दोगे? अपने सिर को कटा कर? नहीं, बल्कि, अपने सिर को अपने धड़ पर क़ायम रख कर, बराबर

उसके काटे जाने का कष्ट सहते हुए। महलों ही को छोड़ कर नहीं, लेकिन इस भीष्म शपथ को ले कर, कि जब तक चित्तौड़ स्वाधीन नहीं होता, जब तक उसकी दीवारें सिर उठा कर संसार के साथ नज़र न मिला सकें, जब तक उन वीर पुरुषों और वीरा स्त्रियों की आत्माएँ, जिनके ख़ून से चित्तौड़ की भूमि सिंची हुई है, अपने मनोवांछित काम को पूरा होते देख कर प्रसन्न न हो जायँ, तब तक फूस पर सोवेंगे, पत्तों पर खाँयगे, और शारीरिक सुखों का स्वप्नों में भी ख्याल न करेंगे ! तपस्या का यहीं अन्त नहीं। जो सिर स्वतन्त्रता देवी के सामने झुका, याद रखो, उसे अधिकार नहीं कि संसार की किसी भी शक्ति के सामने झुके। तलवार की धार पर चलना है ; लेकिन याद रखो, तुम्हारे मुँह से उफ भी निकली, और तुम गये ! ऐसे जाओगे कि कहीं भी पता न लगेगा और अपने साथ ही कितनी ही आशाओं और देश के कितने ही शुभ गुणों को लेते जाओगे।

× × × ×

"……· महान पुरुष—निःसन्देह महान पुरुष ! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है ? स्वतंत्रता के लिये किसने इतनी कठिन परीक्षा दी ? जननी-जन्मभूमि के लिये किसने इतनी तपस्या की ? देश-भक्त, लेकिन देश पर एहसान जमाने वाला नहीं ; पूरा राजा, लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया। अकबर का दर-

बारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बन्दे थे। सरदार उस पर जानें न्योछावर करते थे। भामासाह ने उसके पैरों पर सब कुछ रख दिया। विभीषण मानसिंह उससे नजर नहीं मिला सकता था। अकबर उसका लोहा मानता था। खानखाना उसकी तारीफ में पद्य-रचना करना पुण्य-कार्य समझता था। जानवर भी उसे प्यार करते थे, और घोड़े चेतक ने उसके ऊपर अपनी जान न्योछावर कर दी। स्वतंत्रता देवी को वह प्यारा था, और वह उसे प्यारी थी। चित्तौड़ का वह दुलारा था, और चित्तौड़ की भूमि उसे दुलारी थी। उदार इतना कि बेगमें पकड़ी गईं और मान सहित वापिस भेज दी गईं। सेनापति फरीद खाँ ने कसम खाई कि प्रताप के खून से मेरी तलवार नहायेगी; प्रताप ने सेनापति को पकड़ कर छोड़ दिया।

× × × ×

"अन्तिम काल! जान नहीं निकलती! लेकिन, राणा जी, क्यों? मुझे विश्वास नहीं कि मेरे बाद चित्तौड़ की स्वाधीनता कायम रह सके। क्यों? राजकुमार अमरसिंह इतना दृढ़ नहीं! राजकुमार दृढ़ न सही, मेवाड़ के सोलह सरदार, राणा जी, कसम खाते हैं कि हम अपने खून से स्वतंत्रता के उस बीज को, जो तूने बोया, सींचेंगे। शान्ति हुई, और उसकी आत्मा शरीर से बाहर हो कर स्वतंत्रता देवी की पवित्र गोद में जा विराजी। प्रताप! हमारे देश का प्रताप! हमारी जाति का प्रताप! दृढ़ता और उदारता का प्रताप! तू नहीं है, केवल तेरा यश और कीर्त्ति है। जब तक यह

देश है और जब तक संसार में दृढ़ता, उदारता, स्वतंत्रता और तपस्या का आदर है, तब तक हम क्षुद्र प्राणी ही नहीं, सारा संसार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा। संसार के किसी भी देश में तू होता, तो तेरी पूजा होती और तेरे नाम पर लोग अपने को न्योछावर करते। अमेरिका में होता, तो वाशिंगटन और इब्राहिम लिंकन से तेरी किसी तरह कम पूजा न होती। इंगलैण्ड में होता, तो वेलिंगटन और नेल्सन को तेरे सामने सर झुकाना पड़ता। स्काटलैण्ड में वालेस और राबर्ट ब्रूस तेरे साथी होते। फ्रांस में जोन आफ आर्क तेरे टक्कर की गिनी जाती, और इटली तुझे मेज़िनी के मुकाबिले में रखती। लेकिन, हा! हम भारतीय निर्बल आत्माओं के पास है ही क्या, जिससे हम तेरी पूजा करें, और तेरे नाम की पवित्रता को अनुभव करें। एक भारतीय युवक आँखों में आँसू भरे हुए नेत्रों सहित अपने हृदय को दबाता हुआ लज्जा के साथ, तेरी कीर्त्ति गा—नहीं, रो—नहीं, कह भर लेने के सिवा और कर ही क्या सकता है?"

'प्रताप' के सम्पादकीय कालमों में उनके जो ओजस्वी, प्रभावशाली और गम्भीर लेख निकलते थे, उसके अलावा दूसरे पृष्ठों में भी वे अक्सर लिखा करते थे। ये लेख अक्सर 'भारतीय युवक', 'हरि', 'दिवाकर', 'वक्रतुण्ड', 'कलाधर', 'लम्बोदर', 'वन्देमातरम्' आदि नामों से निकलते थे। विचार उनके इतने स्वतंत्र और खरे थे कि बड़े-से-बड़े आदमी या संस्था की भी—अगर उस संस्था या व्यक्ति ने उनके विचार से ठीक काम न किया तो—आलोचना

करने में न हिचकते थे। महात्मा गान्धी के वे बड़े अनन्य भक्त थे, फिर भी एक दफ़े ऐसा मौका भी आया कि उन्होंने उनकी भी आलोचना की। हिन्दी-साहित्य में इधर जो गन्दा साहित्य—जिसका नाम पं० बनारसीदास जी ने घासलेटी साहित्य रखा है—निकलता रहा है, वे उसे बुरा तो बहुत मानते थे, परन्तु 'प्रताप' के कालमों में भरसक उसकी चर्चा नहीं होने देते। उनका कहना था कि क्षुद्र आदमियों या तुच्छ वस्तुओं की खबर ही नहीं लेनी चाहिये; खबर लेने से, उनकी ओर ध्यान देने से उसका महत्व बढ़ जाता है; उनकी उपेक्षा करना ही उनका नाश करना है। जब उनको कोई पूछेगा ही नहीं, तो स्वतः उनका नाश हो जायगा; परन्तु इसके मानी यह भी नहीं हैं कि अगर कोई गन्दी चीज़ सीमा से भी आगे बढ़ जाय, तो भी वे उसकी निन्दा नहीं करते थे। एक दफ़ा एक मासिक-पत्र में सन्तान-निग्रह की ओट में घासलेटी साहित्य निकलने लगा, तो विद्यार्थी जी ने उसका यहाँ तक विरोध किया कि उन्हें मानहानि आदि के मामले की धमकियाँ तक दी गईं। पर विद्यार्थी जी इन धमकियों की धौंस में क्यों आने लगे? कुछ दिनों बाद उसी पत्र का एक महा अश्लील विशेषांक भी निकला। विद्यार्थी जी पहले आदमी थे, जिन्होंने उसकी आलोचना लिखी और ऐसे साहित्य का घोर विरोध किया। हिन्दी लिखने और हिन्दी की सेवा करने का शौक उनको छोटी उम्र से ही था। १७—१८ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'हमारी आत्मोत्सर्गता' शीर्षक पुस्तक लिखी थी तथा लेख लिखना शुरू कर दिया

था। 'प्रताप' निकालने के पूर्व उनके लेख उनके नाम के अलावा 'गजेन्द्र', 'श्रीकान्त एम० ए०', आदि उपनामों से प्रायः 'सरस्वती', 'अभ्युदय', 'हितवार्ता', आदि में निकलते थे। 'सरस्वती' में तो उनके दो एक लेख जब वे स्कूल के विद्यार्थी थे, तभी निकल चुके थे। जिन दिनों वे 'सरस्वती' के सहकारी सम्पादक थे, उन्होंने 'शेखचिल्ली की कहानियाँ' नामक एक लड़कों की पुस्तिका लिखी, जो प्रयाग के इण्डियन प्रेस से निकली और आज तक उसके बीसों संस्करण हो चुके हैं। पर उसमें विद्यार्थी जी का नाम नहीं छपता है। कहानी लिखने का भी उनको शौक था, और अगर लिखते, तो बहुत अच्छे कहानी-लेखक होते। पर जिन्दगी भर में उन्होंने सिर्फ एक ही कहानी लिखी। वह उन्होंने हरदोई जेल में लिखी। 'हाथी की फाँसी' उसका नाम है। वह अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुई। वह उनकी अन्तिम और पहली कहानी है। पर जब पाठक उसे पढ़ेंगे, तो वे अन्दाज कर सकेंगे कि वे कैसे अच्छे कहानी-लेखक हो सकते थे। 'हाथी की फाँसी' उनकी टकसाली लेखन शैली का बड़ा सुन्दर नमूना है। उन्होंने हिन्दी की 'प्रताप' के अलावा और दूसरी जिस प्रधान चीज़ से सेवा की, वह है संसार-प्रसिद्ध लेखक विक्टर ह्यूगो के 'नाइएटी थ्री' और 'ला मिज़राब्ल्स' का अनुवाद। खासकर 'ला मिज़राब्ल्स' का अनुवाद करके तो उन्होंने अवश्य ही हिन्दी साहित्य को अपना आभारी बना लिया है। विद्यार्थी जी की कलम से उसका अनुवाद दर-असल उसके अनुरूप ही हुआ है। अंग्रेजी या दूसरी भाषाओं के

ग्रन्थ-रत्नों के हिन्दी अनुवाद के वे बड़े कायल थे। दो का खुद किया, कई का दूसरों से कराया तथा आगे चल कर और भी कई उत्कृष्ट पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद वे प्रकाशित करना चाहते थे।

विद्यार्थी जी ने इतनी अधिक साहित्य सेवा की, परन्तु फिर भी अपने को वे कभी साहित्य सेवी नहीं कहते थे। गोरखपुर में होने वाले उन्नीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व के लिये जब वे निर्वाचित हुए, तो किसी भी प्रकार उस पद को स्वीकार करने को तैयार नहीं होते थे। कहते थे—"मैं तो राजनैतिक क्षेत्र का एक सिपाही हूँ, मुझे साहित्य-क्षेत्र में क्यों घसीटते हो, मैंने साहित्य की सेवा ही क्या की है?" बड़ी मुश्किल से उस पद को उन्होंने स्वीकार किया।

हिन्दी की उन्नति और श्रेष्ठता में उनको बड़ा विश्वास था और इसके लिये बराबर अपनी शक्ति भर प्रयत्न करते रहते थे। गोरखपुर सम्मेलन के सभापति के आसन से हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में उन्होंने निम्नलिखित उद्‌गार प्रकट किये थे:—

"..........हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का भविष्य बहुत बड़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यताएँ इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसार भर के रंगमंच पर एक विशेष अभिनय कराने वाली हैं। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य जाति को उतना ऊँचा उठाने, मनुष्य को यथार्थ में मनुष्य बनाने और संसार को सुसभ्य और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई, जितनी कि आगे चल कर

हिन्दी भाषा होने वाली है। हिन्दी को अपने पूर्व-संचित पुण्य का बल है। संसार के बहुत बड़े विशाल खण्ड में सर्वथा अन्धकार था, लोग अज्ञान और अधर्म में डूबे हुए थे, विश्व-बन्धुत्व और लोक-कल्याण का भाव भी उनके मन में उदय नहीं हुआ था, उस समय जिस प्रकार इस देश से सुदूर देश-देशान्तरों में फैल कर बौद्ध-भिक्षुओं ने बड़े बड़े देशों से ले कर अनेकानेक उपत्यकाओं, पठारों और तत्कालीन पहुँच से बाहर गिरि-गुहाओं और समुद्र-तटों तक धर्म और अहिंसा का सन्देश पठाया था, उसी प्रकार अदूर भविष्य में उन पुनीत सन्देश-वाहकों की सन्तति संस्कृत और पाली की अग्रजा हिन्दी द्वारा भारतवर्ष और उसकी संस्कृति के गौरव का सन्देश एशिया महाखण्ड के प्रत्येक मन्त्रणा-स्थल में, एशियाई महासंघ के प्रत्येक रंगमंच पर, सुनावेगी। मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता, जब हिन्दी साहित्य अपने सौष्ठव के कारण जगत-साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिन्दी, भारतवर्ष ऐसे विशाल देश की राष्ट्र भाषा की हैसियत से न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में, किन्तु संसार भर के देशों की पंचायत में एक साधारण भाषा के समान न केवल बोली भर जायगी; किन्तु अपने बल से संसार की बड़ी बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी और उसके कारण अनेक अन्तर-राष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ा और बना करेंगे। संसार की अनेक भाषाओं के इतिहास, धमनियों में बहने वाले ठण्ढे रक्त को उष्ण कर देने वाली उन मार्मिक घटनाओं से भरे पड़े हैं, जो उनके अस्तित्व की रक्षा

के लिये घटित हुई। फ्रांस की किरचों की नोक छाती पर गड़ी हुई होने पर भी रूर प्रान्त के जर्मनों ने अपनी मातृ-भाषा के न छोड़ने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और उसका अक्षर-अक्षर पालन किया। कनाडा के फ्रांसीसियों का अपनी मातृभाषा के लिये प्रयत्न करना किसी समय अपराध था; किन्तु घमण्डी मनुष्यों के बनाये हुए इस कानून का मातृ-भाषा के भक्तों ने सदा उल्लंघन किया। इटली, आस्ट्रिया के छीने हुए भू-प्रदेशों के गले के नीचे जबर्दस्ती अपनी भाषा उतारना चाहती थी; किन्तु वह अपनी समस्त शक्ति से भी मातृ-भाषा के प्रेमियों को न दबा सकी। आस्ट्रिया ने हंगरी को पद-दलित करके उसकी भाषा का भी नाश करना चाहा; किन्तु आस्ट्रिया-निर्मित राज-सभा में बैठ कर हंगरी वालों ने अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा में बोलने से इन्कार कर दिया था। दक्षिण अफ्रिका के जनरल बोथा ने केवल इस बात के सिद्ध करने के लिये कि न उनका देश विजित हुआ और न उनकी आत्मा ही, बहुत अच्छी अंग्रेजी जानते हुए भी बादशाह जार्ज से साक्षात् होने पर अपनी मातृ-भाषा डच भाषा में ही बोलना आवश्यक समझा, और एक दु-भाषिया उनके तथा बादशाह के बीच में काम करता था। यद्यपि हिन्दी के अस्तित्व पर अब इस प्रकार के खुले प्रहार नहीं होते; किन्तु उन ढँके-मुँदे प्रहारों की कमी भी नहीं है, जो उस पर, और इस प्रकार देश की सुसंस्कृति पर, विजय प्राप्त करना चाहते हैं। साहस के साथ और उस अगाध विश्वास के साथ जो हमें हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के परमोज्ज्वल भविष्यत्

पर है, हमें इस प्रकार के प्रहारों का सामना करना चाहिये ; और जितने बल और क्रियाशीलता के साथ हम ऐसा करेंगे, जितनी द्रुत गति के साथ हम अपनी भाषा की त्रुटियों को दूर करेंगे और उसे ३२ करोड़ व्यक्तियों की राष्ट्र भाषा के समान बलशाली और गौरवयुक्त बनावेंगे, उतना ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्य की रश्मियाँ दूर दूर तक समस्त देशों में पड़ कर भारतीय संस्कृति, ज्ञान और कला का सन्देश पहुँचावेंगी ; उतने ही शीघ्र हमारी भाषा में दिये गये भाषण संसार की विविध रंग-स्थलियों में गुंजरित होने लगेंगे और उससे मनुष्य-जाति मात्र की गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देगा, और उतने ही शीघ्र एक दिन और उदय होगा और वह होगा तब, जब इस देश के प्रतिनिधि उसी प्रकार, जिस प्रकार आयर्लैण्ड के प्रतिनिधियों ने इंगलैण्ड से अन्तिम सन्धि करते और स्वाधीनता प्राप्त करते समय अपनी विस्मृत भाषा गैलिक में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे, भारतीय स्वाधीनता के किसी स्वाधीनता-पत्र पर हिन्दी भाषा में और नागरी अक्षरों में अपने हस्ताक्षर करते हुए दिखाई देंगे।"

विद्यार्थी जी और नौजवान

"मैं नौजवानों से अर्ज करता हूँ कि वे धैर्य रखें और अपने मन पर काबू प्राप्त करें। क्रोध से हमारी उन्नति न होगी; यह आवश्यक नहीं कि हम अंग्रेजों को शत्रु मानें। मैंने उनके खिलाफ़ सत्याग्रह किया है, पर उन्हें शत्रु कभी नहीं माना। मुझे तो उनका हृदय-परिवर्तन कराना है। तूफानी प्रदर्शनों से हमारा काम नहीं चल सकता, मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता।"

— गान्धी जी

विद्यार्थी जी को नौजवानों से बड़ा प्रेम था। वे उनके जीवन-प्राण थे। उन्हें वे हर प्रकार से सदा प्रोत्साहन देते थे। अगर कहा जाय कि वे नौजवानी की जीवित जाग्रत प्रतिमा थे, युवकत्व के शक्ति-भाण्डार थे,—जहाँ से शक्ति का प्रकाश निरन्तर चारों तरफ फैलता रहता था और सैकड़ों नौजवान उससे अपने को देदीप्यमान करते थे—तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। युवकों को अपनी ओर आकृष्ट करने तथा उन्हें अपनाने का भी उनमें विचित्र गुण था। मनुष्य-पारखी भी वे एक ही थे। जिस युवक में प्रतिभा देखी, जिसे होनहार पाया, उसे अपनाया, प्रोत्साहित किया और आगे बढ़ाया। न जाने ऐसे कितने युवकों को अपना कर उन्होंने कृतकृत्य कर दिया, उनका जीवन-स्रोत एक तरफ से दूसरी तरफ मोड़ कर सदा के लिये उन्हें अपना आभारी बना लिया। दूसरों की भलाई और सेवा की तो उन्हें इतनी

चिन्ता रहती, पर स्वयं किसी से, अपने घनिष्ट से घनिष्ट मित्र से भी कुछ अधिक उम्मीद नहीं करते थे। कहते थे—किसी से अधिक उम्मीद न करो। जो भी उनके सम्पर्क में आया, उस पर उनका असर पड़े बगैर नहीं रहा। इसका एक मुख्य कारण यह था कि वे सिद्धान्त-वादी ही न थे, व्यवहार-वादी भी थे। जो कहते थे, कर दिखाते थे। ऐसे व्यक्ति की ओर लोगों का, खासकर आज-कल के जाग्रत नौजवानों का आकृष्ट होना बिलकुल स्वाभाविक था। ऐसे महापुरुष को अपना मित्र, गुरु या नेता मान कर क्यों न कोई अपने को धन्य समझेगा ?

भारत के जिन जिन प्रान्तों में हिन्दी भाषा बोली जाती है, उन सब प्रान्तों के नौजवानों पर उनका प्रभाव था। बिहार, युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, मध्यभारत, राजस्थान और पंजाब के सैकड़ों नौजवान उन्हें अपना नेता मानते थे। अप्रत्यक्ष रूप से कितने नौजवानों ने उनसे शक्ति और साहस प्राप्त किया, इसका तो कोई हिसाब ही नहीं, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से जिन्होंने उनके सम्पर्क में रह कर साहस, शौर्य, श्रेष्ठता और प्रोत्साहन प्राप्त किया और जीवन-क्षेत्र में सफलता पूर्वक आगे कदम बढ़ाया, उनमें पं० श्री कृष्णदत्त पालीवाल, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', प्रो० सद्गुरू शरण अवस्थी, पं० ठाकुर प्रसाद शर्मा, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० श्रीराम शर्मा, पं० शिव-नारायण मिश्र, पं० दसरथप्रसाद द्विवेदी, पं० रमाशंकर अवस्थी, पं० विष्णु दत्त शुक्ल, श्री कृष्णानन्द गुप्त, पं० सुरेन्द्र शर्मा, श्री प्रकाश-नारायण शिरोमणि, श्री शिवनारायण टंडन, प्रो० जयचन्द्र विद्या-

लंकार, श्री चन्द्रधर जौहरी, श्री चन्द्रभाल जौहरी, श्री हरिहरनाथ शास्त्री, श्री जगमोहन 'विकसित', इन पंक्तियों के लेखक, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

नौजवानों को उदास, मुर्दा-दिल और पस्त-हिम्मत देख कर वे बहुत चिढ़ते थे । कहते थे कि नवयुवकों के जीवन में निराशा और उदासी कैसी ? निराशा और मुर्दा-दिली तो एक रोग है । जो नौजवान अपनी युवावस्था ही में निराश हो बैठा, उसके चेहरे पर मुर्दनी छाई रहने लगी ; वह इस संसार में कुछ भी नहीं कर सकता । खुद वे अनेक विपत्तियों और कठिनाइयों से हो कर गुज़रे थे, उन्हें कुचल कर आगे बढ़े थे, इसलिये देश के सब नौजवानों से ऐसी ही उम्मीद रखते थे । आजकल के नौजवानों में व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता और वे उलझनों में पड़ कर घबड़ा जाते हैं, उनसे कुछ शिक्षा लाभ नहीं करते । इस सम्बन्ध में हरदोई जेल से अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री हरिशंकर के नाम (जब कि वे प्रेस में काम देख रहे थे) लिखी हुई चिट्ठी का यह अंश देश के नौजवानों के मनन करने लायक है:—

"......इन उलझनों में अब होशियारी से काम लेना सीखो । कुछ व्यावहारिक बुद्धि प्राप्त करने का तुम्हें इससे बढ़ कर कोई अवसर प्राप्त न होगा । आजकल की शिक्षा एकांगी है । युवक व्यावहारिक ज्ञान से कोरे होते हैं । किन्तु इस अवसर से तुम बहुत लाभ उठा सकते हो, जो आगे चल कर तुम्हारे लिये बहुत ही लाभदायक होगा ।....."

एक दूसरे पत्र में भी हरदोई जेल से ही (९-१२-३० को) इसी सम्बन्ध में उन्होंने उनको इस प्रकार लिखा था :—

"......सब कामों में स्वयं न उलझो। अधिकांश काम दूसरों से कराओ। दूसरों से काम करा सकना केवल स्वयं काम कर लेने की शक्ति से अधिक बड़ी शक्ति है। दूसरों से काम लेने में एक बात का ख्याल रक्खो। जिसे जो काम सौंपा जाय, उसके सम्बन्ध में उस पर इतना विश्वास अवश्य करो कि जब तक काम बिगड़ने न लगे, तब तक उसे न टोको। शिकायत करने वालों की ओर ध्यान न दो। किसी हालत में व्यग्र न हो। जितने व्यग्र होगे, वातावरण उतना ही अधिक व्यग्र बनावेगा। कभी कोई कठिन समस्या का निर्णय करना हो तो तुरन्त उसका निर्णय न करो, उसे नोट कर लो और रात में विचार कर सबेरे उसका निर्णय करो।"

बात बिलकुल ठीक है। कष्ट और विपत्ति मनुष्य को शिक्षा देने वाले बड़े श्रेष्ठ गुरु हैं। इनके उपदेश का जो मनुष्य आदर और श्रद्धा के साथ पालन करते हैं, वे सदा अपने जीवन में विजयी होते हैं। यदि मनुष्य अपने जीवन को उच्च और विजयी बनाना चाहे, तो उसे अपने ऊपर आने वाली आपदाओं, कठिनाइयों और अपमानों से जरा भी नहीं डरना चाहिये। और न कभी निराशा को अपने पास फटकने देना चाहिये।

आजकल के स्कूल कालेजों में जो विद्यार्थी पढ़ते हैं, पढ़ने के आगे, डिग्री प्राप्त करने की धुन में, न तो वे अपने स्वास्थ्य का ख्याल रखते हैं और न उनके माता पिता ही उनकी कुछ पर्वा करते हैं।

पर विद्यार्थी जी ऐसे पिता न थे। वे अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के साथ ही उनके स्वास्थ्य का भी बहुत ध्यान रखते थे। इस सम्बन्ध में उनके पुत्र श्री हरिशंकर विद्यार्थी के नाम लिखे गये उनके पत्र का निम्न लिखित अंश पठनीय है।

"......मेरी यह स्पष्ट राय है कि इस साल तुम कालेज में नहीं पढ़ोगे। इस वर्ष पढ़ना लिखना बन्द। केवल स्वास्थ्य सुधारना आवश्यक है। बी० ए०, एम० ए० की डिग्री से काम नहीं चलेगा। वे तो जब चाहोगे तब मिल जायंगी, किन्तु गया हुआ स्वास्थ्य हाथ नहीं आवेगा और कमजोर शरीर जन्म भर कष्ट देता है। अपने भाई बहनों को भी तन्दुरुस्ती ठीक रखने की शिक्षा दो। ओंकार रोज व्यायाम करे और मैं तो चाहता हूँ कि कृष्णा, बिमला और सरला भी लेट कर व्यायाम करना सीख लें......"

विद्यार्थी जी कभी षड्यन्त्रकारी नहीं रहे और न उनका षड्-यन्त्रकारियों के मार्ग में कभी विश्वास ही रहा। यही नहीं, बल्कि उन लोगों को सदा वे इस पथ की कठिनाइयाँ और बुराइयाँ समझाते थे। यह सब मानते हुए भी उनकी सहानुभूति सदा उनके प्रति रहती थी। वे षड्यन्त्रकारियों के साहस, त्याग, और देश-प्रेम को बड़ी इज्ज़त की नजर से देखते थे। उनका विचार था कि जिस समुदाय का जिस मार्ग में विश्वास हो, देश को आज़ाद करने के लिये वह अगर उस मार्ग का अनुसरण करता है तो कोई पाप नहीं करता। हाँ, उसे समझा कर स्वराज्य का जो सबसे अधिक प्रशस्त मार्ग—अहिंसात्मक युद्ध—है, उस पर लाने की चेष्टा

जरूर करनी चाहिये; पर अगर वह समुदाय इस तरफ न मुड़े तो उसके विश्वास के अनुसार कार्य करने में बाधा भी नहीं डालनी चाहिये। पहले तो उन्हें अहिंसावाद पर विश्वास न था, पर बाद को वे इसके बड़े हामी, महात्मा गान्धी के कट्टर अनुयायी हो गये। फिर भी विपत्ति-ग्रस्त षड्यन्त्रकारियों की मदद करना भी वे अपना फर्ज समझते थे। उनके मुकदमों की पैरवी और उनके आश्रयहीन माता पिता और सम्बन्धियों की सहायता आदि के लिये वे सदा तत्पर रहते थे। मैनपुरी षड्यन्त्र केस, काकोरी षड्यन्त्र केस आदि के अभियुक्तों के मुकदमों की पैरवी तथा उनके प्रति लोगों की सहानुभूति आकृष्ट करने के लिये उन्होंने बड़ी कोशिश की थी। षड्यन्त्र के इन दोनों मुकदमों की महत्ता विद्यार्थी जी और उनके 'प्रताप' ने ही लोगों को बतलाई तथा शुरू से आखीर तक अभियुक्तों को बचाने, उन्हें न्याय दिलाने की शक्ति-भर चेष्टा की। काकोरी केस के शहीद श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल', रोशन सिंह, आदि के माता पिता को वे अपने अन्तिम समय तक मदद पहुँचाते रहे। इन नौजवानों के लिये भी गणेश जी के हृदय में कितना प्रेम था, वह निम्नलिखित बात से भली भाँति प्रकट हो जायगा।

काकोरी केस के सज़ायाफ्ता नौजवानों ने अपने साथ होने वाले दुर्व्यवहारों के कारण १९२७ ई० में विभिन्न जेलों में अनशन शुरू कर दिया। विद्यार्थी जी दस दिन, पन्द्रह दिन, बीस दिन, पचीस दिन देखते रहे, पर यू० पी० सरकार टस से मस न हुई। विद्यार्थी जी ने होम मेम्बर को चिट्ठियाँ लिखीं, तार भेजे, कि जनाब और

कुछ न सही इंसानियत के ही नाते इन नौजवानों पर रहम खा कर प्राण बख्शे जायँ। पर कुछ भी न हुआ। चालीस-चालीस, पैंतालीस-पैंतालीस दिन हो गये, अब-तब की नौबत पहुँच गई, फिर भी जब कुछ होते न देखा तो विद्यार्थी जी का कोमल हृदय काँप उठा, उन्हें उनके अनशन बन्द कराने की सूझी, क्योंकि उनकी प्राणरक्षा का अब कोई दूसरा तरीका रह नहीं गया था। फ़तेहगढ़ जेल दौड़े हुए गये और बहुत समझा बुझा कर श्री योगेश चटर्जी, श्री गोविन्द चरण कर और श्री राम दुलारे का ४१ दिन के उपवास के बाद अनशन बन्द करवाया। उसके बाद नैनी जेल गये और उपवास के ४७ वें दिन श्री मन्मथ नाथ गुप्त, श्री विष्णु शरण दुबलिस का अनशन बन्द करवा कर इनकी प्राण रक्षा की। आगरा तथा बरेली जेल में रहने वालों के पास भी वे जाने ही वाले थे, पर इन दोनों जगहों के भाइयों के अनशन बन्द करने की बात सुन कर उन्होंने स्वयं ही अनशन बन्द कर दया। इसी प्रकार १९२९ ई० में जब लाहौर षड्यन्त्र केस के सरदार भगतसिंह, श्री बटुकेश्वर दत्त आदि अभियुक्तों को अनशन करते दो दो मास से भी अधिक हो गये थे, तो आप वहाँ भी दौड़े हुए गये और उन लोगों का अनशन भी बन्द कराने की पूरी चेष्टा की।

१ दिसम्बर १९२९ ई०(लाहौर काँग्रेस के थोड़े दिन पूर्व) के 'प्रताप' के सम्पादकीय स्तम्भ में विद्यार्थी जी ने 'युवकों का विद्रोह' शीर्षक निम्नलिखित लेख लिखा था। इससे पाठकों को विद्यार्थी जी की अहिंसा-वृत्ति और युवकों के प्रति उनके जो भाव थे उनका पता लगेगा:—

"कुछ समय से हमारे अधिकांश नौजवान जिस वातावरण में हैं उससे सन्तुष्ट नहीं हैं। निष्क्रियता में मुर्दों से बाजी लगाने वाले इस देश के युवक इस समय परिवर्तन और क्रान्ति का उत्साह के साथ आवाहन कर रहे हैं। क्रान्ति-जन्य विभीषिकाओं का उन्हें भय नहीं है। उन्हें डर दिखाइये तो कहते हैं कि जीती जागती भीषणता वर्तमान मुर्दा शान्ति से अच्छी है। वर्तमान वायुमंडल से तो वे हर तरह से पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। एक ही क्षेत्र में नहीं, जीवन के विविध क्षेत्रों में यही चहल-पहल देखी जा रही है। जो कुछ दक़ियानूसी है, जो कुछ सड़ा गला है, जो प्रगति को रोकता है, जो कुछ हाथ पैर और मन की जड़ता है, उन सब से भिड़ जाने और उन पर विजय प्राप्त किये बिना चैन न लेने की यह तैयारी है। राजनैतिक क्षेत्र में तो नित्य इस प्रवृत्ति के प्रदर्शन हो रहे हैं। नौजवान भारत सभा, युवक संघ, क्रान्तिकारी-दल, कम्युनिस्ट दल, आदि चिन्ह हैं कि युवकों के हृदय में आँधी चल रही है। लाहौर काँग्रेस के जो प्रतिनिधि चुने गये उस में नौजवानों ने जहाँ तक बना, उन्हीं को प्रतिनिधि बनने दिया, जो पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती हैं। कई जगह तो यहाँ तक हुआ कि पुराने से पुराने आदमी दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंके गये, और नये नौजवानों ने उनका स्थान लिया। इस प्रवाह में अब इतनी तीव्रता है कि बहुत से नौजवानों की दृष्टि में महात्मा गान्धी अब पिछड़ जाने वाले व्यक्ति हो गये हैं, और अहिंसा-वाद उन्हें कुछ जँचता ही नहीं। वे कहने लगे हैं कि अब पुराने

ढंग से काम न चलेगा, महात्मा गान्धी का समय हो चुका, अब उनसे कुछ नहीं होने का; और जो कुछ होगा वह नये आदमियों और नये ढंग से होगा। नौजवानों के इस ढंग से देश के बहुत बड़े समुदाय में कुछ घबड़ाहट सी है। घबड़ाहट इसलिये नहीं कि पुराने लोग अपने स्थानों से चिपके रहना चाहते हैं, और नहीं चाहते कि कोई आगे बढ़े और कुछ जौहर दिखाये; किन्तु घबड़ाहट इसलिये कि अधिकांश पुराने यह समझते हैं कि अपनी जल्दबाजी और नासमझी से ये नौजवान खन्दक में जा गिरेंगे और देश को भी उसमें ढकेल देंगे। आज नये और पुराने में कहीं कहीं संघर्षण सा हो रहा है; और जहाँ नहीं हो रहा है, वहाँ उसके होने की संभावना है। संघर्षण में नये समझते हैं कि बूढ़े खूसट न मरते हैं और न माचा (चारपाई, स्थान) छोड़ते हैं; और पुराने समझते हैं कि महत्त्वाकांक्षा से नयों का सिर फिर गया है। दोनों ओर भ्रम है। देश के कल्याण के लिये उसे दूर होना चाहिये। युवक युवक ही क्या, यदि उसमें उत्साह और ओज न हो। युवकत्व का सबसे बड़ा प्रमाण ही यह है कि भावनाओं का वह पुंज हो और अखिल उत्साह का स्रोत। उसके (युवक के) उदय से घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। उसका तो हृदय से स्वागत होना चाहिये। आज से २० वर्ष पहले की देश की शिथिलता से, जब आज की स्फूर्ति और चेतना की तुलना की जाय तब यह देख कर कि जीवन के चिह्न समस्त दिशाओं में छिटके हुए हैं, हृदय गद्गद् हो उठना चाहिये। अभी तक

जो खेती की गई थी, यदि आज वह फले और फूले तो किस खेतिहर को खुशी न होगी ? यदि फसल अच्छी आई है तो उसे सँभाल कर रखने की आवश्यकता है। वह सारे दुख-दारिद्र दूर कर देगी, उससे घबड़ाने की क्या जरूरत ? यदि विद्युत्-शक्ति का अटूट भांडार मिल गया हो तो उसके उचित संचालन की आवश्यकता है। उसकी भीषणता की बात सोच सोच कर चिन्ता से सूखने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये देश के पुराने आदमी अपनी नई खेती पर खुश हों, वे उसका स्वागत करते हुए केवल उसका पथ-निर्देश करें, न उसे दबावें और न उसे घातक समझें। पुरानों की अपेक्षा नयों की अब अधिक बड़ी जिम्मेदारी है ; समय उनकी प्रतीक्षा कर रहा है, सुविधाएँ उनके चरणों को पखारने के लिये तैयार हैं; किन्तु यह तभी जब वे केवल युवकत्व के नाम पर नहीं, केवल इसलिये नहीं कि वे पुनीत विद्रोही हैं जो इतिहास का निर्माण किया करते हैं ; किन्तु अपनी प्रगाढ़ आदर्श-भक्ति और आदर्श की ओर बढ़ने वाले व्यक्ति के योग्य विनम्रता और कर्त्तव्यशीलता का अखण्ड परिचय दे कर अपने लिये स्थान चाहेंगे। गालियों के देने, डींग मारने, आज़ादी की व्यर्थ रट लगाने और दूसरों पर धूल फेंकने से न कोई बड़ा होता है और न कोई बड़ा काम हुआ करता है। बहुधा तो जो गरजते हैं वे बरसते ही नहीं, और जो बड़ी डींग मारा करते हैं वे बड़े कायर हुआ करते हैं। देश के नौजवान देश की खातिर और अपनी नौजवानी की खातिर इस कुटेव से बचें। वे बढ़-बढ़ कर बातें न मारें, वे बढ़ बढ़ कर काम करें। वे अपनी बात पर अटल

रहें ; किन्तु नम्रता के साथ, दूसरों पर बाण प्रहार करते हुए नहीं। जो लोग उनसे मत-भेद रखें वे क्यों यह समझें कि वे सच्चे नहीं हैं ? जिसे नौजवान कुर्बानी के नाम से पुकारते हैं, यदि उसे उनसे मत-भेद रखने वाला आदमी नहीं करना चाहता तो इसलिये वह क्यों हीन समझा जाय ? और यदि कोई नौजवान कुर्बानी करता है तो वह क्यों समझे कि देश पर कोई उपकार करता है और केवल अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता ? अहिंसा के मज़ाक उड़ाने की प्रवृत्ति भी इस समय कुछ जोरों पर है। यह काम किया तो आसानी से जाता है, किन्तु वह इस योग्य नहीं है कि ऐसे सहज ढंग से किया जाय। हिंसा और अहिंसा की विवेचना छोड़ दीजिये, विज्ञान ने वर्तमान रण-शैली को बेहद भयंकर बना दिया है, उसमें वीरता नहीं रही, उसमें पशुता और हत्या का राज्य है, और उसके मुकाबले में हमारे ऐसे शताब्दियों से निरस्त्र लोगों का खड़ा भी रह सकना असम्भव है। हमारे लिये तो अहिंसा ही परम अस्त्र है, उसी से हम दुनियाँ में किसी का मुकाबला कर सकते हैं। आगे बढ़ने वाले युवक सबसे विद्रोह करें ; किन्तु वे एक भावना से विद्रोह करने की इच्छा को हृदय में न आने दें। उनके मन में ऊँचे चरित्र के प्रति कभी प्रताड़ना या उपेक्षा का भाव उदय न हो। वे स्वयं चरित्रवान हों, उनका सिर भी जब झुके तब चरित्रवान के लिये। यदि चरित्र के प्रति उनमें आदर भाव रहा तो उनका विद्रोह, चाहे कितनी ही कटुता क्यों न धारण कर ले, देश के लिये अन्त में, अमृत-फल ही सिद्ध होगा।"

धार्मिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवन

"मेरा विश्वास है कि बिना धर्म का जीवन बिना सिद्धान्त का जीवन होता है; और बिना सिद्धान्त का जीवन वैसा ही है, जैसा कि बिना पतवार का जहाज। जिस तरह बिना पतवार का जहाज मारा मारा फिरेगा और कभी उद्दिष्ट स्थान तक नहीं पहुँचेगा, उसी तरह धर्म-हीन मनुष्य भी संसार-सागर में इधर से उधर मारा मारा फिरेगा, और कभी अपने अभीष्ट स्थान तक नहीं पहुँचेगा।"

— गान्धी जी

विद्यार्थी जी बड़े ही धर्म-परायण और बहुत ही ईश्वर-भक्त थे। ईश्वर में उनकी अगाध श्रद्धा और प्रेम था। परन्तु जो आदमी ऊपर से, साधारण बातचीत से उनकी ईश्वर-भक्ति का अन्दाजा लगाता, वह प्रायः धोखा खाता था। ऊपर से वे बड़े नास्तिक मालूम होते थे। उनके सम्पर्क में रहते हुए भी इन पंक्तियों का लेखक बहुत दिनों तक उन्हें नास्तिक समझता था, परन्तु बाद को मैंने देखा कि आस्तिकता उनमें कूट कूट कर भरी है और वे एक बड़े ही धार्मिक व्यक्ति हैं। धर्म के नाम पर आजकल समाज में जो अनेक आडम्बर फैले हुए हैं, विद्यार्थी जी उनको ना-पसन्द करते तथा धर्म के वास्तविक तत्व को समझ कर उसके अनु-सार आचरण करना सर्वदा श्रेष्ठ मानते थे। वे मन्दिर में जा कर मूर्ति-पूजा नहीं करते थे, सुबह-शाम आसन पर बैठ कर सन्ध्या गायत्री का जाप अथवा हवन भी नहीं करते थे, चन्दन-टीका

लगाने अथवा रुद्राक्ष की माला फेरने के भी हामी न थे, और न वे हिन्दुओं के ३३ करोड़ देवताओं के ही भक्त थे। वे न आर्य-समाजी थे और न आजकल कहे जाने वाले सनातनधर्मावलम्बी, न जैनी थे और न बौद्धधर्मावलम्बी, उन्हें न इस्लाम धर्म से घृणा थी और न ईसाई मजहब से विद्वेष, वे न कबीर-पन्थ को बुरा मानते थे और न राधास्वामी सम्प्रदाय को अग्राह्य। फिर भी वे ईश्वर-परायण और धर्मात्मा थे। उनका धर्म क्या था? इसके सम्बन्ध में भी एक मजेदार चुटकुला है। सन् १९२१ की सेंसस (मनुष्य गणना) हो रही थी। गिनने वाला आया। रात का वक्त था। 'प्रताप' प्रेस में पण्डित बालकृष्ण शर्मा, पण्डित शिवनारायण मिश्र और विद्यार्थी जी बैठे थे। गिनती की ख़ानापूरी होने लगी। जब मज़हब वाला ख़ाना आया, तो विद्यार्थी जी ने कहा—बालकृष्ण, भाई धर्म क्या लिखाया जाय? भाई बालकृष्ण जी ने कहा—गणेश जी, धर्म तो एक ही है—सनातन धर्म! इस पर गणेश जी बहुत प्रसन्न हुए। बोले—भाई खूब कहा; लिखिये साहब, धर्म—सनातन धर्म! गणेश जी इस बात पर बड़े खुश थे। कई बार दोहराते रहे—हाँ भाई, धर्म तो सनातन धर्म ही है! पर उनका सनातन धर्म आजकल का सनातन धर्म न था। उन्होंने इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर लिया था कि भिन्न-भिन्न धर्म एक ही स्थान पर पहुँचने के जुदा-जुदा मार्ग हैं। जिसे जौन सा रास्ता भला लगे, उसी के द्वारा वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जायगा। उन्होंने गान्धी जी की निम्न लिखित उक्ति को पूर्णतः

कुर्सी पर बैठी हुईं—विद्यार्थी जी की वृद्धा माता।

बाईं ओर खड़े हुए—विद्यार्थीजी के कनिष्ठ पुत्र चि० ओङ्कार शङ्कर विद्यार्थी

दाहिनी ओर खड़ी हुईं—विद्यार्थी जी की दूसरी पुत्री कुमारी विमला देवी

बाईं ओर बैठी हुईं—विद्यार्थी जी की ज्येष्ठ पुत्री कुमारी कृष्णा देवी

दाहिनी ओर बैठी हुईं—विद्यार्थी जी की तीसरी पुत्री कुमारी सरला देवी



हृदयंगम कर लिया था और स्वयं धर्म के वास्तविक स्वरूप की तह तक पहुँचने का बराबर प्रयत्न करते थे :—"मनुष्य का, चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, कोई काम तब तक कभी सफल और लाभदायक नहीं होगा, जब तक उस काम को किसी प्रकार का धार्मिक आश्रय न होगा। यहाँ 'धर्म' शब्द से मेरा तात्पर्य उस धर्म से नहीं है, जो आप संसार के समस्त धर्म-ग्रन्थों को पढ़ कर सीखेंगे। जिस धर्म से मेरा तात्पर्य है, वह वास्तव में मस्तिष्क के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका सम्बन्ध हृदय से है। वह एक ऐसी चीज है, जो हम पर प्रगट तो नहीं होती ; परन्तु हमसे जिसकी सृष्टि होती है। वह धर्म सदा हम लोगों के हृदय में रहता है। कुछ लोगों को तो उसके हृदय में होने का ज्ञान होता है, पर कुछ लोगों को उसका जरा भी ज्ञान नहीं होता ; लेकिन वह हृदय में रहता अवश्य है। इस धर्म-भाव को चाहे हम किसी बाहरी सहायता से प्राप्त करें और चाहे आत्मिक उन्नति के द्वारा जाग्रत करें ; पर यदि हम किसी काम को उचित रीति से करना चाहें अथवा किसी ऐसे काम को करना चाहें, जिसके करने के लिये हमारा विवेक हमें विवश करता है, तो उस दशा में हमें उस धर्म-भाव को जाग्रत करना ही पड़ेगा। हमारे धर्म-शास्त्रों में कुछ ऐसे नियम बतला दिये गये हैं, जो जीवन के सत्य सिद्धान्त हैं और जिन्हें हमें मानना ही पड़ेगा।"—कहने की जरूरत नहीं कि विद्यार्थी जी को अपने हृदय के इस धर्म का पूरा ज्ञान था।

७ फरवरी १९२२ ई० को जब कि विद्यार्थी जी लखनऊ के जिला जेल में थे, अपने बड़े पुत्र के बीमारी से अच्छे होने पर उन्होंने अपनी डायरी में इस प्रकार लिखा था :—"हरि अच्छा है ! परमात्मा के चरणों में अत्यन्त विनय-पूर्वक बारम्बार प्रणाम ! बहुधा अपनी कमजोरियों और पापों पर दृष्टि डालते हुए यह मालूम पड़ता है कि मुझे जो कुछ भी प्राप्त है, वह बहुत है और मैं इसके योग्य भी नहीं । इसलिये प्रकृति के जिस अंचल से जो कुछ मिले, उसके लिये कृतज्ञता से सिर झुकाना और जो कुछ छिन जाय, उसके लिये शिकायत की बात मुँह से न निकालना अपना धर्म समझता हूँ । इस धर्म का पालन कहाँ तक होता है, यह दूसरी बात है । संसार में क्या होना चाहिये और क्या होता है, यह विवेचना बड़ी कौतूहल-जनक है । विचार और कार्य में भेद के कम होने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करना अवश्य सच्चे आदमी का काम है । ईश्वर, सच्चे आदमियों की श्रेणी में होने के लिये बल प्रदान कर ।"

इन पंक्तियों के एक एक अक्षर से ईश्वर पर कितना अटल विश्वास और सत्यनिष्ठ होने की कितनी ज्वलन्त भावना प्रकट होती है ? वास्तविक ईश्वर-भक्ति और हृदय की सचाई का, सत्य के पुजारी बनने का, यह बड़ा ही सुन्दर नमूना है। और यही नहीं, बल्कि विद्यार्थी जी ने अपने भाई, पुत्र, अथवा पत्नी, आदि के नाम समय समय पर जो पत्र लिखे थे और जिनमें से कुछ इस पुस्तक में जहाँ तहाँ उद्धृत किये गये हैं, उनसे भी पाठकों को उनकी

ईश्वर-भक्ति का सुन्दर परिचय मिलेगा। यों तो शुरू से ही वे बड़े आस्तिक थे, पर जीवन के अन्तिम दिनों में उनकी आस्तिकता और बढ़ गई थी। जिस समय नैनी जेल में थे, उस समय उनके कमरे की छत से और दीवारों से अक्सर साँप और बिच्छू निकला करते थे, परन्तु उनमें से किसी ने कभी भी उन पर कोई चोट नहीं की। जिस समय हरदोई जेल में थे, जन्माष्टमी के अवसर पर उन्हें दही और पेड़ा खाने को इच्छा हुई। बहैसियत ए० क्लास के कैदी के, वे चाहते तो अपने खाने की चीजों में, अथवा अपने पैसे से, इन चीजों को मँगा कर खा सकते थे। परन्तु उन्होंने कहना ठीक नहीं समझा। अचानक रात के १० बजे जेल का वार्डर दरवाजा खुलवा कर उन्हें दही-पेड़ा दे गया। पूछने पर वार्डर ने बतलाया कि जेल के फाटक पर न जाने कौन साहब आपके लिये दे गये हैं। वे बड़े आश्चर्य में पड़े कि आखिर मामला क्या है?

इसी प्रकार और भी घटनाएँ उनके साथ घटीं और इस कारण परमात्मा में उनकी श्रद्धा-भक्ति और भी बढ़ गई। यह भक्ति यहाँ तक बढ़ी कि अन्त में वे भाग्यवादी तक बन गये। पाठकों को यह सुन कर आश्चर्य होगा, और आश्चर्य होने की बात भी है कि जो आदमी स्वयं इतना बड़ा पुरुषार्थी रहा हो, जिसने स्वयं अपने ही पुरुषार्थ से अपने को इतना ऊँचा उठाया हो, जिसने विद्या और धन दोनों की बिलकुल नाम-मात्र पूँजी को ही ले कर अध्यवसाय द्वारा अपने को इतना गौरवशाली बना लिया हो और जिसने यह साबित कर दिखाया हो कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता

स्वयं ही है, वह अपने को जो कुछ चाहे बना सकता है; वह आखिर भाग्यवादी कैसे हो सकता है? परन्तु यह ऐसा ही हुआ था। और वास्तव में होता भी यही है कि जो बड़े आस्तिक होते हैं, वे प्रायः बड़े भाग्यवादी भी हो जाते हैं; दुनियाँ में जो कुछ होता है, उन सबमें उन्हें सदा परमात्मा का हाथ दिखाई देता है।

उनकी सच्चाई और उनकी मानवता ने उनकी आस्तिकता को और भी गहरा कर दिया था। वे सब कुछ ईश्वर की देन मानते थे। वे अपने शरीर, अपने बच्चों और अपनी रूखी सूखी रोटियों को ईश्वर-प्रदत्त मानते थे। गान्धी जी ने लिखा है—'देह हमारी नहीं है, ऐसा समझ कर मिली हुई थाती के—धरोहर के—रूप में उसका जो उपयोग कर सकें करते जाँय।'—विद्यार्थी जी सदैव इसी सिद्धान्त के अनुकूल आचरण करते थे। उन्होंने देह का उपयोग सदैव ईश्वर के काम में अर्थात् अन्याय के विरोध और मानवता की पूजा में किया। जीवन को उन्होंने यज्ञमय बना डाला औरफिर भी कभी उन्होंने यह नहीं समझा कि उन्होंने कुछ किया। वे अपने को सदा 'कमजोर मनुष्य' समझते रहे। वे समझते रहे कि वे तो कुछ भी नहीं कर सकते, सब कुछ ईश्वर करता है।

विद्यार्थी जी के सामाजिक विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। समाज में आजकल धर्म के नाम पर जो पोपलीला मची हुई है, वे सदा उसके खिलाफ आवाज़ उठाते और उसके अनुसार आचरण भी करते रहे। अपने समाज की महिलाओं की पतितावस्था से वे बहुत दुखी होते और उनकी शिक्षा-दीक्षा, पर्दा-प्रथा तोड़ने, उन्हें

पुरुषों के समान ही अधिकार देने के वे पक्के हिमायती थे। छुआ-छूत और खान-पान में जो दकियानूसीपन घर किये हुए है, उसे वे समाज की उन्नति के लिये बहुत बाधक समझते थे। वे किसी भी साफ़ सुथरे आदमी के हाथ का खाना खाने या पानी ले कर पीने में कभी नहीं हिचकते थे। न हिन्दुओं में किसी से उनका इस सम्बन्ध में दुराव था और न मुसलमानों से कोई अलगाव। एक बेड़िया के पीछे पुलिस वाले बुरी तरह पड़े थे। उसे बहुत तंगत करते थे। उन्होंने लिखा-पढ़ी करके उसे पुलिस के चंगुल से बचाने के लिये 'प्रताप' प्रेस में बुला कर ठहरा लिया। प्रेस के कर्मचारी उसका छुआ हुआ पानी नहीं पीते थे; पर उन्हें जब पानी पीना होता सहज ही उससे मँगवा कर पीते थे। जब भी मौका पड़ता, मुसलमानों के साथ भी वे बैठ कर खाया करते थे। १९१५ ई० में बम्बई से लौटते हुए पहले पहले विद्यार्थी जी अपने अनन्य मित्र श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के यहाँ चिरगाँव गये। उन्होंने दाल रोटी खाने की इच्छा प्रकट की। गुप्त जी साग पूड़ी खिलाना चाहते थे। जब विद्यार्थी जी ने दाल रोटी की ही ज़िद की तो गुप्त जी के काका जी ने कहा कि अच्छी बात है, ब्राह्मण से कच्ची रसोई बनवा दो। विद्यार्थी जी ने कहा—'नहीं काका जी, मैं आपके चौके के भीतर की बनी रसोई ही खाऊँगा। हम लोग तो भ्रष्ट हो गये हैं।' घर की स्त्रियों ने जब सुना तो उन्हें भी आश्चर्य हुआ कि एक वैश्य के घर की कच्ची रसोई कोई कायस्थ भला कैसे खायगा? उन्होंने कहा—'क्यों किसी की जात लेना चाहते हो?'

देहातों में उस समय और आज भी ये बातें अनहोनी मालूम होती हैं ; परन्तु विद्यार्थी जी का कहना था कि इस प्रकार खाने-पीने से किसी की 'जात' घटती नहीं, बल्कि और बढ़ जाती है। छुआ-छूत के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए अक्सर वे कहा करते थे कि कारखानों में काम करने वाले हिन्दू मजदूर तो दिन भर छू जाने के भय से, भुने हुए चनों पर ही गुजर करते हैं ; पर मुसलमान मजदूर अपने साथ रोटी और तरकारी ले जाते हैं और मजे से खाते पीते हैं। फल-स्वरूप मुसलमान तो सबल और सतेज रहते हैं ; पर हिन्दू मजदूरों का शरीर दिन दिन सूख कर काँटा हो जाता है और वे थोड़े ही दिनों बाद बेकार हो जाते हैं।

हमारे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं में भी अभी तक ऐसे बहुत हैं, जो खान-पान में छुआछूत का भेद मानते तथा दूसरी जाति वाले अथवा अपनी जाति की ही दूसरी उपजाति वाले के हाथ की छुई या बनाई कच्ची रसोई खाने में अपना धर्म-नाश समझते हैं। पिछले सत्याग्रह आन्दोलन में यह बात बहुत कम हुई, पर इसके पहले इस भावना का बहुत जोर था। १९२५ ई० में कानपुर कांग्रेस के समय विद्यार्थी जी ने इस संकुचित भावना को दूर करने के लिये एक बड़ा काम किया। कांग्रेस की तैयारी में करीब डेढ़ हजार स्वयं-सेवक और कार्यकर्त्ता लगे थे। इन सब लोगों के लिये उन्होंने भोजन का एक साथ प्रबन्ध कराया। इतने आदमियों के महीने भर तक के खाने का अलग-अलग प्रबन्ध कराना संभव नहीं था ; फिर भी कुछ धर्म-ध्वजा-धारियों के लिये अलग व्यवस्था

हो सकती थी। परन्तु विद्यार्थी जी ने सिर्फ इस संकीर्णता को दूर कर राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के मानस-क्षितिज को अधिक विस्तृत करने के उद्देश्य से किसी के लिये भोजन का प्रबन्ध अलग नहीं कराया और कह दिया कि जो यहाँ नहीं खा सकते वे खुशी से काम छोड़ कर चले जा सकते हैं। बहुतों को यह निरंकुशता अखरी, पर अन्त में प्रायः सब ने यह सिद्धान्त मान लिया और फिर ब्राह्मण से ले कर चमार तक वहाँ एक साथ बैठ कर खाते रहे। यह ठीक है कि कुछ आदमियों ने मजबूरन खाया, पर बहुतों के तो इसी समय इस मामले में दृष्टिकोण भी बदल गये।

आजकल हिन्दू समाज में पुरुष-समुदाय स्त्री-समाज को जैसी उपेक्षा करता और उन पर जैसे-जैसे अत्याचार करता है, विद्यार्थी जी इन बातों को देख और विचार कर तिलमिला उठते थे। वे सदा इसके खिलाफ आवाज उठाते और स्त्रियों की अवस्था उन्नत हो, वे अपने को नगण्य न समझें, इसके लिये उद्योग करते थे। उनकी पूजनीया माता जी पुराने ख्याल की पक्षपातिनी हैं। फिर भी विद्यार्थी जी अपने परिवार से सामाजिक बुराइयों को दूर करने का सदा यत्न करते रहे। वे अपनी पुत्रियों की शिक्षा-दीक्षा और आराम का बराबर उतना ही ख्याल रखते, जितना कि अपने पुत्रों का। पुत्रियों को कभी भी उन्होंने यह अनुभव नहीं होने दिया कि चूँकि वे लड़कियाँ हैं, इसलिये उन्हें भी लड़कों की जैसी शिक्षा आदि नहीं मिल सकती।

विद्यार्थी जी का पारिवारिक जीवन बड़ा सुन्दर था। परिवार के सभी लोगों से वे बहुत प्रेम करते और उनकी सुविधा और आराम का पूरा ख्याल रखते थे। माता, पिता, बड़े भाई और पत्नी प्रायः इनसे भिन्न विचार रखते, परन्तु विचार-वैभिन्न्य के कारण इनमें कभी भी किसी प्रकार का कोई दुराव नहीं होता। सभी एक दूसरे पर बड़ा स्नेह, बहुत प्रेम रखते।

विद्यार्थी जी की धर्मपत्नी का स्वास्थ्य खराब हो गया है और प्रायः वे बीमार रहती हैं। इसके साथ ही उनके बच्चों में भी कोई-न-कोई अक्सर बीमार हो ही जाते हैं। विद्यार्थी जी बाहरी काम, प्रेस के काम, आदि का अनेक बोझ सर पर होते हुए भी रात-रात जाग कर इन रोगियों की सेवा किया करते। ऐसे कई मौके आये, जब कि उन्होंने लगातार कई-कई रातें जाग कर इन लोगों की सेवा की। विद्यार्थी जी के पिता अपनी मृत्यु के करीब ४-५ मास पहले से बीमार थे। उन्हें एक प्रकार का उन्माद हो गया था। विद्यार्थी जी अपने बड़े भाई साहब के साथ इन चार-पाँच महीने तक दिन और रात बराबर उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगे रहे। विद्यार्थी जी और उनके बड़े भाई के बीच जैसा प्रेम था, वैसा विरले ही परिवार में देखने को मिलता है। बड़े भाई साहब ने अपनी धर्मपत्नी और पुत्र के देहान्त के बाद अपनी दूसरी शादी नहीं की, और विद्यार्थी जी के बच्चों को वे बिलकुल अपने ही बच्चों के समान मानते और प्यार करते आ रहे हैं।

अपने बच्चों पर विद्यार्थी जी बड़ा स्नेह रखते और उनसे बहुत



विद्यार्थी जी की कनिष्ठा कन्या

कुमारी उर्मिला देवी (कुन्नो)

घुल-मिल कर बातें करते। कभी-कभी रात में उनके साथ बैठ कर उन्हें विविध प्रकार की कहानियाँ सुनाते। कहानियाँ ऐसी होतीं कि उनसे उनका मनोरंजन भी होता और शिक्षा भी मिलती। बच्चों के साथ मजाक भी वे खूब करते थे। अनेक बार उन्हें अपने बड़े पुत्र के साथ इस प्रकार मजाक करते मैंने देखा जैसे कोई अपने बराबर के आदमी के साथ करता हो। नीचे हरदोई जेल से अपनी बड़ी पुत्री के नाम लिखी गई दो चिट्ठियाँ उद्धृत की जाती हैं। इनसे विद्यार्थी जी के परिवारिक जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ेगा:—

"......अपनी माता से कह देना कि वे तनिक भी न घबड़ायें। मैं बहुत अच्छी तरह हूँ। तबियत अच्छी है। मेरी वे चिन्ता न करें। ईश्वर की कृपा से मैं सकुशल घर लौटूँगा। इस समय उन पर जो विपत्ति है, देश के हजारों भले परिवारों पर वह विपत्ति है। हम लोग धर्म का काम कर रहे हैं। हम सबको यह सन्तोष होना चाहिये कि हमें जो कष्ट झेलना पड़ रहा है, वह किसी पाप-कर्म के लिये नहीं है। हमारे कष्टों से अवश्य ही परम पिता हमारा कल्याण करेंगे। इन कष्टों की समाप्ति के पश्चात् अच्छा समय आवेगा। ईश्वर और धर्म की सत्ता पर विश्वास रखें।......"

× × ×

"..... वर्षा होने पर यहाँ हम लोगों को भी कष्ट होता है, अपने बैरेक में बैठे रहना पड़ता है। मैदान में, जो हमें आँगन के रूप में मिला हुआ है, घूमना फिरना रुक जाता है। वैसे घूमने

फिरने के लिये काफी चौड़ी जगह है। मैं यह समझता हूँ कि हम लोगों की दशा कुछ वैसी ही है, जैसी कि बड़े घरों में रहने वाली पर्दानशीन महिलाओं की होती है। तुम्हारी माता जी वर्षों पर्दे में रही हैं। उनसे कह देना कि यहाँ हम लोग उनकी उस दशा से दस-बीस गुना अच्छे ही हैं। इसलिये उन्हें मेरे सम्बन्ध में चिन्ता न करनी चाहिये। मुझे विश्वास है कि वे घबड़ाती न होंगी। इस समय तो देश पर आँधी आ रही है। जो सब पर बीतेगी, वही हम लोगों पर भी बीतेगी। .....”

विद्यार्थी जी अपने माता-पिता, भाई-बहिन और लड़के-बच्चों से इतना प्रेम करते हुए भी उनमें आसक्त न थे; उन के प्रति विद्यार्थी जी के हृदय में मोह न था। घर वालों का प्रेम उन्हें कभी अपने कर्त्तव्य-पालन में बाधा नहीं देता था। उनके जीवन की यह एक खास बात थी कि गृहस्थी में रह कर भी गृहस्थी के झंझटों और मोह से उन्होंने अपने को ऊपर उठा लिया था। अगर उनके जीवन में यह महानता न होती तो अपने को धधकती हुई आग में इस प्रकार न होम देते। घर की आर्थिक अवस्था खराब है, अभी लड़के-लड़कियाँ पढ़ रही हैं, चार लड़कियाँ हैं, जिनमें एक शादी करने लायक हो गई है, पत्नी सदा बीमार रहती हैं, माता वृद्धा हो चुकी हैं; पर महान कर्त्तव्य- पालन के समय उन्होंने इनका कुछ भी ख्याल नहीं किया; आग में कूद पड़े और अनासक्ति योग का ज्वलन्त उदाहरण देश के सामने छोड़ गये। हम लोगों में इस अनासक्ति योग के अनुसार आचरण करने वाले कितने हैं?

कुछ बिखरी हुई बातें

" अपनी बीमारी के लिये हम कितना करते हैं ! हिन्दुस्तान की बीमारी को अपना समझने वाले कितने......हैं ? हिन्दुस्तान के भयंकर क्षय रोग के लिये सब कितना देने को तैयार हैं ? यह कसौटी हम सब की हो रही है। हर एक को अपना अपना फ़र्ज़ अदा करना है। "

—गान्धी जी

विद्यार्थी जी में अवगुण कहिये या कमजोरी—वह एक ही थी—क्रोध ! अनेक सार्वजनिक कामों के बोझ से लदे रहने, घरेलू झंझटों से बराबर चिन्तित होने और दुनिया के धूर्तों और बदमाश आदमियों के कड़ुए अनुभवों के कारण उनका स्वभाव कुछ क्रोधी हो गया था। परन्तु उन्हें क्रोध तभी आता था, जब किसी आदमी ने कोई काम बिगाड़ दिया हो, या जो काम उसके सुपुर्द किया गया हो, उसने न किया हो, या जान-बूझ कर टालमटूल की हो। लेकिन उनके क्रोध के काफ़ूर बन कर उड़ते देर नहीं लगती थी। ऐसे अनेक मौके आये हैं, जब कि लेखक ने उन्हें अपने सहकारियों को उनकी किसी गलती के कारण फटकारते देखा है, परन्तु उसके थोड़ी ही देर बाद वे उसकी पीठ पर थपकियाँ देते हुए और पुचकारते हुए नज़र आते थे। एक दफे उन्होंने अपने छोटे पुत्र को उसकी शरारत के लिए दो-चार तमाचे लगाये, पर बाद को इसके लिये उन्हें इतना दुख हुआ कि उस दिन उन्होंने भोजन

नहीं किया और बाद को उसे बहुत प्यार के साथ दुलारते पुचकारते रहे। अपने स्वभाव के कुछ चिड़चिड़े हो जाने का उन्हें ज्ञान था और वे सदा उस पर लगाम लगाने की चिन्ता रखते थे। डाँट-फटकार के बाद जब शान्त होते, तो उन्हें अपने क्रोध पर क्रोध आता और उसके लिये अफसोस करते। यही नहीं, उनका हृदय इतना विशाल और विचार इतने उदार थे कि अपने क्रोध और किसी गलती के लिये उन्हें अपने से किसी छोटे व्यक्ति से भी खेद प्रगट करते हिचक न होती थी।

अन्याय और अत्याचार के ऊपर और स्वाभिमान पर आघात पहुँचते समय तो मानों उन्हें स्वभावतः क्रोध हो आता था। सरकारी अधिकारियों, पुलिस वालों, अथवा समाज के व्यक्ति-विशेषों की ज्यादतियों को देख कर उनका चेहरा लाल हो उठता। उस समय उनकी काली और मोटी भौंहें सिकुड़ जाती थीं, और आँखों से चिनगारी-सी निकलने लगती थी। अगर अन्याय करने वाले सामने आ जायँ, तो उन पर वे शेर की तरह टूटते और ऐसी फटकार बतलाते कि बेचारों की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती। पुलिस वालों को अनेक बार उनकी तनी हुई त्योरियों का शिकार होना पड़ा था। श्रीयुत मैथिलीशरण जी गुप्त की राय में उनमें एक दुर्बलता और थी!—"..... मनुष्य मात्र में दुर्बलताएँ होती हैं। उनमें भी होंगी। परन्तु मैंने एक बात को छोड़ कर उनके किसी दूषण को न कभी देखा, न सुना। वह एक बात 'हठ' थी। इस दोष के सम्बन्ध में सम्भव है मेरी ही भूल हो और यदि ऐसा हो

तो मुझे उससे सन्तोष ही होगा। किन्तु इसमें तो सन्देह ही नहीं कि यह दोष भी दुर्बलता को नहीं, दृढ़ता को ले कर ही उनमें था। अपने निश्चय पर अटल रहने की जो उनमें विशेषता थी, उसी के कारण उनका स्वभाव कुछ आग्रही हो गया था। उनका यह आग्रह कभी कभी दुराग्रह सा दिखाई पड़ता था।"

निर्भीक बन कर रहने और अत्याचारों का विरोध करने की मनोवृत्ति तो मानों उनमें जन्म-जात थी। बड़े-से-बड़े अधिकारी और तानाशाह की भी वे कोई पर्वाह नहीं करते और मौके पर करारी फटकार भी सुना देते थे। अधिकारियों से तो वे और भी ज़रा भी नहीं दबते थे। कहते—वे पब्लिक सर्वेंट (सार्वजनिक नौकर) हैं, सेवक हो कर रहें, वे शाह बन कर अपने स्वामियों (प्रजा) पर ही लाल-पीले क्यों पड़ते हैं?—१९२१ ई० की कानपुर जेल की इस सन्बन्ध की उनकी एक बड़ी रोचक कहानी है। जेल का मामूली कायदा यह है कि जो भी नया कैदी आता है, वह जेल सुपरिंटेण्डेण्ट के सामने पेश किया जाता है। विद्यार्थी जी भी इस नियम के अनुसार तत्कालीन सुपरिण्टेण्डेण्ट मेजर बकले के सामने लाये गये। सुपरिण्टेण्डेण्ट कुर्सी पर बैठे कागजात देख रहे थे, जेलर असि० जेलर, आदि खड़े कागजात दिखा रहे थे। सुपरिंटेण्डेण्ट को काम में व्यस्त देख विद्यार्थी जी वहीं पर खाली पड़ी कुर्सी पर बैठ गये। जेलर ने उनकी ओर देखा और उन्हें कुर्सी पर बैठे देख कर वह घबड़ा उठा। जेल-सुपरिंटेण्डेण्ट (जेल के सर्वेसर्वा) के सामने एक कैदी कुर्सी

पर बैठे—यह तो गज़ब की बात थी। उधर सुपरिंटेण्डेण्ट साहब का भय, इधर विद्यार्थी जी का ख्याल। न उन्हें कुर्सी पर से उठने ही को कह सकते थे और न बैठे ही रहने दे सकते थे; बेचारे बड़े पशोपेश में पड़े। पर गनीमत यह हुई कि शीघ्र ही उनकी बुद्धि ने उनका साथ दिया और उन्होंने बगल में खड़े वार्डर से कहा कि उन्हें (विद्यार्थी जी से) वह यह कहे कि अभी आप चलिये, साहब (सुपरिंटेण्डेण्ट) काम में फँसे हैं, जब ज़रूरत होगी, आपको फिर बुला लिया जायगा। विद्यार्थी जी उठ कर अपने बैरेक में गये और तब जेलर की जान में जान आई।

इस सम्बन्ध में एक और बड़ी मजेदार घटना है। 'प्रताप' को निकले थोड़े ही दिन हुए थे। शायद १९१४-१५ की बात है। 'प्रताप' प्रेस की तलाशी होने आई। तलाशी में बीसों पुलिस कांस्टेबुलों के साथ शहर-कोतवाल और इंस्पेक्टर जनरल आफ़ पुलिस भी आ धमके। उन दिनों 'प्रताप' प्रेस में कुर्सियों की कमी थी। आज भी हालत वही है, पर हाँ उस वक्त से इस वक्त कुछ कुर्सियाँ अधिक ज़रूर हैं। ख़ैर, कुर्सियों की कमी थी। सिर्फ़ दो कुर्सियाँ थी। विद्यार्थी जी एक कुर्सी पर बैठे थे और दूसरी पर शिवनारायण जी मिश्र। पुलिस के बड़े अधिकारी आए। इंस्पेक्टर जनरल और शहर-कोतवाल भी साथ थे। विद्यार्थी जी बैठे रहे। शहर-कोतवाल ने कुर्सी साहब को देने के लिये कहा। विद्यार्थी जी भला क्यों उठते? इस पर शहर-कोतवाल खान बहादुर बाक़र अली खाँ ने विद्यार्थी जी को 'बदतमीज़' कह दिया। बस, फिर

क्या था ? कोतवाल और कोतवाल के साथ ही इंस्पेक्टर जनरल की शामत आ गई। विद्यार्थी जी की त्यौरियाँ चढ़ गईं और उन्होंने कोतवाल साहब को ऐसी सुनायी कि उनके होश ठिकाने आ गये। विद्यार्थी जी ने कहा—"बदतमीज़ तुम, और होंगे तुम्हारे साहब ! साहब हैं तो मैं क्या करूँ, क्या सर पर चढ़ा लूँ ? बेशक पब्लिक सर्वेण्ट हैं, उस तरह रहें। आप इस प्रकार रोब किस पर झाड़ते हैं।" बेचारे कोतवाल तो कोतवाल, इंस्पेक्टर जनरल साहब तक इस निर्भीकता और खरी-खरी बातों पर अवाक् रह गये और माफी माँगने लगे। बड़ी देर तक कोतवाल साहब के 'साहब' और वे खुद खड़े-खड़े तलाशी लेते रहे। विद्यार्थी जी किसी का रोब कभी नहीं सहते थे और खासकर प्रजा के ही पैसे से गुलछर्रे उड़ाने वाले अधिकार-मद में चूर पुलिस कर्मचारियों की मनमानी और अत्याचारों से चिढ़े रहने के कारण वे उनके घमण्ड को चूर करने का मौका कभी हाथ से नहीं जाने देते थे। इस बार की चखचख का विशेष कारण यही था। अगर कोतवाल साहब सज्जनता-पूर्वक पेश आते तो उन लोगों का आदर करने में उन्हें कोई हिचक न होती। उसके बाद जब दो एक दफे और उन कोतवाल साहब के समय 'प्रताप' प्रेस की तलाशी हुई, तो वे अपने लिये कोतवाली से कुर्सी उठवाते आये।

× × ×

सन् १९१७ तथा उसके पूर्व बिठूर के मेले में कानपुर के यात्री मालगाड़ी के डब्बों में गाय-भैंसों की तरह भर कर भेज दिये जाते

थे। एक दफे विद्यार्थी जी भी वहाँ जा रहे थे। देखा, लोग माल-गाड़ी में चढ़ रहे हैं। उन्हें यह बहुत बुरा लगा। स्टेशन के अधिकारियों से या तो मुसाफिर गाड़ियों में लोगों को बिठाने या टिकट के दाम वापस देने को कहा। परन्तु वे भला इनकी बात पर क्यों ध्यान देने लगे। इन्होंने झट सत्याग्रह की बात सोची, और अपने कुछ अनुयायियों को ले कर मुसाफिरों से लदी, खुलने के लिये बिलकुल तैयार गाड़ी के आगे आ कर लाइन पर लेट गये। अधिकारियों को झखमार के इनकी बात माननी पड़ी, और तब से फिर कभी मालगाड़ी में लाद कर लोग बिठूर नहीं ले जाये गये।

१९२७ ई० में कानपुर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ, और सरकार ने बिल्कुल व्यर्थ अतिरिक्त पुलिस बैठा दी। अतिरिक्त पुलिस का कर देने की घोषणा हुई। विद्यार्थी जी इसके खिलाफ उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा कि यह टैक्स सरासर धाँधली से लगाया गया है, अतिरिक्त पुलिसकी कोई जरूरत न थी, हम टैक्स न देंगे। उनके नेतृत्व में कानपुर वाले टैक्स न देने के लिये तैयार हो गये। आठ आने और एक-दो रुपये की जगह ५),१०), २५), ५०) रुपये की चीजें पुलिस जबर्दस्ती उठा ले गयी, परन्तु, सैकड़ों आदमियों ने इसका विरोध करते हुए अपने मन से एक पैसा भी टैक्स अदा नहीं किया। देशी रियासतों की प्रजा पर होने वाले अत्याचारों का विरोध, चम्पारन के नीलहों की ज्यादतियों का विरोध, अवध के किसानों पर होने वाले जुल्मों का विरोध, साईखेड़ा के दादा के भ्रष्टाचरणों का विरोध, जगह जगह की पुलिस तथा नौकर-

शाही की ओर से होने वाले बीसों अत्याचारों आदि का विरोध उन्होंने किया और बड़ी निर्भीकता के साथ किया, उसके अच्छे या बुरे फल का कुछ भी खयाल न करके अपना कर्तव्य समझ कर किया। फल-स्वरूप अनेक मुकदमे चले, अनेक तकलीफ़ें झेलनी पड़ीं, पर उनकी कतई कोई परवा न की। चर्चा होने पर कहने लगते, भाई क्यों परेशान होते हो, जीवन में यह सब तो लगा ही रहता है। मनुष्य झंझट और आपत्तियों से बच के तो कभी रह ही नहीं सकता। फिर क्यों न अच्छे कार्यों के करने के उद्योग के ही झंझटों और आपत्तियों में फँस कर उन्हीं का मुक़ाबला किया जाय। ऐसी थी उनकी मनोवृत्ति, और अपने जीवन भर इसी मनोवृत्ति से यह काम करते रहे। वह एक बहादुर लड़ाके थे, हाथ पर हाथ धर के बैठना कभी न जानते थे।

× × ×

एक बार विद्यार्थी जी कलकत्ता गये हुए थे। वहाँ एक दिन अपने मित्र स्व० पं० ईश्वरी प्रसाद जी शर्मा के यहाँ पहुँचे। बात-चीत होने लगी। विद्यार्थी जी ने शर्मा जी से कहा:—"'प्रताप' की सहायता के लिये अर्थ-संग्रह करने आया हूँ। दैनिक ('प्रताप') में बड़ा खर्च है। इतने दिनों से कलकत्ते में गोटी जमाये बैठे हो, कुछ दिलवाओ। लेकिन लेने देने की बात तो पीछे होगी, पहले रसगुल्ले खिलाओ। देखता हूँ, दैनिक 'प्रताप' की पूरी फाइल तुम्हारे पास है। सब जुगा कर रखते जा रहे हो क्या?" शर्मा जी

ने झट रुपया निकाल कर श्री शिवपूजन सहाय (जो उन दिनों वहीं रहते और 'मतवाला' में काम करते थे) को दिया और कहा कि ट्राम से जा कर बाग बाजार से रसगुल्ले ले आओ। विद्यार्थी जी ने श्री शिवपूजन सहाय की हथेली पर से रुपया उठा कर अपनी जेब में डालते हुए कहा—'इनको क्यों हैरान करोगे, मैं रास्ते में उधर खा लूंगा।' अट्टहास से कमरा गूंज उठा।

इसके बाद वे श्री शिवपूजन सहाय से पूछने लगेः—"माधुरी' को क्यों छोड़ आये भाई ? 'मतवाला' में कौन-कौन हैं ? उसे हिन्दी का विलायती पंच * बनाओ। कभी-कभी वह ('मतवाला') बेतरह ढाल लेता है। गन्दे और टुच्चे मजाक से जनता की रुचि भ्रष्ट होती है, शुद्ध विनोद से साहित्य परिपुष्ट होता है। निर्दोष व्यंग-विनोद से भी तो मतवालापन निबह सकता है ! कभी कभी सनक कर कीचड़ उछाल देता है। हँसी तो जरूर आती है; मगर साथ ही घृणा भी पैदा होती है।" श्री शिवपूजन जी ने कहा—"एक बार पधार कर 'मतवाला'-मंडल को भी कृतार्थ कीजिये। आज या कल, किसी समय, जब अवकाश हो।" विद्यार्थी जी ने खेद प्रकट करते हुए कहा—'माफ करो भाई, फिर कभी आना हुआ, तो कोशिश करूँगा। इस बार तो बिलकुल समय नहीं है। और मुझे वहाँ ले जा कर क्या करोगे ? मैं कोई साहित्य-सेवी थोड़े हूँ, मैं तो एक मामूली किसान हूँ बस। किसान का दिल्लगी से क्या सम्बन्ध ; वह तो रोटी के लिये परे-

* 'पंच' इंगलैण्ड का हास्य रस का एक सुप्रसिद्ध पत्र है।

शान रहता है। मरभुक्खों को दिल्लगी नहीं सूझती, वह तो बाबुओं के दिल-बहलाव की चीज़ है। मैं बाबू नहीं हूँ, खेतिहर हूँ खेतिहर—ठेठ किसान! क्यों शर्म्मा जी?'

शर्मा जी—आप जो हैं, सो हम लोग जानते हैं, दुनियाँ जानती है; आप नहीं जान सकते।

विद्यार्थी जी—ऐसा?

शर्मा जी—हां और क्या?

विद्यार्थी जी—अच्छा तो तुम्हीं बताओ, मैं क्या हूँ—सच कहना, ईमान से।

शर्मा जी—आप किसान नहीं, किसानों के अन्नदाता हैं, पीड़ितों और त्रस्तों के भय-त्राता हैं, और हैं धुरन्धर सम्पादकाचार्य!

विद्यार्थी जी—धुरन्धर्र...? हाः—हाः—हाः—हाः! लेकिन भाई, मैं 'अन्नदाता' नहीं हूँ। अन्नदाता लोग तो राजपूताने के महलों में—ज़नानख़ानों में—चहेतियों के बीच में रहते हैं!

विद्यार्थी जी की यह बात सुन कर सभी खिलखिला उठे।

× × ×

उनकी नेतागीरी और साइकिल पर चढ़ने के सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक कहानी है। १९१७ या १९१८ में एक दफे वे चिरगाँव गये हुए थे। बातों ही बातों में साइकिल पर चढ़ने की चर्चा चली। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने पूछा—साइकिल पर चढ़ना जानते हो? उत्तर मिला—साइकिल पर चढ़ना जानता तो नहीं,

फिर भी साइकिल पर मुझे बीस बीस मील जाने का मौका मिला है। गुप्त जी ने पूछा—सो कैसे ? वे बोले—अजी, अब हम नेता हो गये हैं। देहातों में सभाएँ होती हैं और हमें भाषण करने के लिये जाना पड़ता है। उस समय और कोई उपाय न होने पर हम सीट के आगे साइकिल के डण्डे पर डट जाते हैं और तगड़े भक्त लोग हमें और साइकिल दोनों को घसीट ले जाते हैं! गुप्त जी ने कहा—ऐसे नेतापन को दूर ही से नमस्कार। विद्यार्थी जी ने कहा—क्या करें, काम तो हमें उन्हीं में करना है। बेचारों का उत्साह कैसे भंग करें ? *—साइकिल पर इस प्रकार बैठ कर जाने का मौका उन्हें शायद दो ही एक दफे लगा होगा, परन्तु वे ऐसे मज़ाक-पसन्द थे कि बातचीत के वक्त ऐसी बातों को बड़े रोचक ढंग से कहते थे।

× × ×

गोरखपुर के साहित्य सम्मेलन के अवसर पर प्रो० रामकुमार वर्मा ने विद्यार्थी जी को अपनी लिखी पुस्तक 'अभिशाप' भेंट की। वर्मा जी की विद्यार्थी जी से वह पहली ही मुलाक़ात थी। विद्यार्थी जी हँसते हुए बोले—'तुमने प्रथम भेंट में ही 'अभिशाप' दिया !' वर्मा जी ने हँसते हुए कुछ देर बाद, उस पर सम्मति भेजने की प्रार्थना की। इस पर विद्यार्थी जी बोले—'अभिशाप की

* विद्यार्थी जी ने युवावस्था में एक बार साइकिल पर चढ़ना सीखने का प्रयास किया था, परन्तु एक दिन के बाद फिर उन्होंने उसके लिये कोशिश नहीं की। पहले दिन गिर गिरा के उन्होंने चोट खूब खा ली थी।

सम्मति ही क्या ? आपने अभिशाप दिया, मैंने उसे सिर झुका कर ले लिया। यही सम्मति समझिये।'

× × ×

विद्यार्थी जी काम से तो नहीं, लेकिन नाम से सदा भागते थे। उनमें दिखावट न थी और न वे अपने विषय में बहुत बात ही करते थे। पहले 'प्रताप' में वे सम्पादक की जगह पर अपना नाम देते थे, पर बाद को अपना नाम छापना बन्द कर दिया और तब तक बन्द रखा, जब तक कि सम्पादक का नाम पत्र में देना कानूनन लाज़मी न कर दिया गया। १९२१ ई० में दैनिक 'प्रताप' के भी वे सम्पादक थे, परन्तु उसमें भी उन्होंने अपना नाम कभी नहीं दिया। 'प्रताप' उनका अपना पत्र था, और युक्त प्रान्त के अलावा और कई प्रान्तों में भी उसकी बड़ी धूम थी। उसके द्वारा चाहते, तो विद्यार्थी जी अपना नाम बहुत बढ़ा सकते और काफी ख्याति प्राप्त कर सकते थे; परन्तु 'प्रताप' को उन्होंने कभी अपने स्वार्थ-साधन का ज़रिया नहीं बनाया और अपनी एक भी ऐसी बात 'प्रताप' में नहीं छपने दी, जो सार्वजनिक हित की न हो। युक्त-प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन के अधिवेशन (फर्रुखाबाद) के सभापति वे निर्वाचित हुए थे। ऐसे सम्मेलनों के सभापतियों के चित्र बराबर 'प्रताप' में छपा करते हैं। उसी के अनुसार मैं उनका ब्लाक निकलवा कर 'प्रताप' में देने जा रहा था। उन्होंने देख कर वह ब्लाक देने से मना कर दिया। मैंने कहा—यह कोई नई बात तो नहीं हो रही है; 'प्रताप' में ऐसे चित्र बराबर छपते हैं और पत्रकार-

कला की दृष्टि से यह ज़रूरी भी है।—पर पत्रकार-कला के उस आचार्य ने अपना ब्लाक नहीं देने दिया। एक दफे और ऐसा मौका आया। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वे सभापति चुने गये थे। उस हफ्ते के 'प्रताप' में कुछ मैटर और ब्लाक देने की बात चली। मैंने कहा कि एक ही पृष्ठ में अगल-बगल पिछले साल के और इस साल के सभापतियों के चित्र दे दूँगा। कहना पूरा भी न हुआ था कि विद्यार्थी जी बोल उठे, 'नहीं मेरा ब्लाक नहीं जायगा।' भाई बालकृष्ण जी शर्मा भी वहाँ थे। उन्होंने कहा, 'क्यों नहीं जायगा? मैं आप से साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से नहीं, 'प्रताप'-सम्पादक की हैसियत से पूछता हूँ कि 'प्रताप' सम्पादक (जो कि स्वयं विद्यार्थी जी ही थे) हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति का ब्लाक, 'प्रताप' में क्यों नहीं छापना चाहते?' युक्ति और तर्क से विद्यार्थी जी उस वक्त वहाँ हार तो गये, पर चित्र देने के लिये फिर भी राजी न हुए। इसी प्रकार ऐसे और भी कई मौके आये जब उनकी निःस्वार्थ सेवा-भावना को मैंने देखा, और सोच कर मन ही मन मुग्ध हो गया। जितने बड़े आदमी वे थे, अपना नाम पैदा करने का जितना साधन उनके पास था, और लोक-हित के जितने अधिक काम उन्होंने किये; अगर कोई दूसरा आदमी होता तो बहुत पहले अपने को बहुत बड़ा आदमी, बड़ा नेता विख्यात करवा लेता; परन्तु उन्होंने इस बात को कभी महत्व नहीं दिया, कभी इसका ख्याल नहीं किया। उन्हें काम, और ठोस काम प्रिय था;

और सदा उसी के पीछे मतवाले बने रहते थे। युक्तप्रान्त के अनन्य नेता, प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर, 'प्रताप' जैसे सुप्रसिद्ध पत्र के यशस्वी सम्पादक वे थे; परन्तु उन्हें अपने बड़प्पन का कभी ख्याल भी नहीं हुआ। इस दशा में भी वे दीन-हीनों, मजदूर और किसानों तथा साधारण आदमियों से उसी प्रकार प्रेमपूर्वक मिलते, जिस प्रकार पहले—जब कि उनकी उतनी ख्याति न थी, इतने बड़े आदमी न हुये थे—उन लोगों से मिलते थे। देश के कार्यकर्त्ताओं के लिये विद्यार्थी जी की निःस्वार्थ सेवा-भावना, नाम के पीछे न मरने की दृढ़ता, सर्वथा अनुकरणीय है।

× × ×

मनुष्य अपूर्ण है, उसमें अनेक दुर्बलतायें हैं; इसे विद्यार्थी जी अच्छी तरह समझते थे और मानव सहानुभूति से सदा उनका हृदय उमड़ा पड़ता था। वे अपने को सातवें आसमान पर न रख कर इस पृथ्वी पर ही रखते और उसी दृष्टि से विचार और कार्य करते। दुर्बल मनुष्यों से, उनकी दुर्बलता के कारण वे कभी घृणा नहीं करते, बल्कि उदारता पूर्वक उन्हें अपनाते थे।

एक बार एक आदमी काम ढूँढ़ता हुआ उनके पास आया। एक जानकार आदमी ने बतलाया कि यह शख्स दो जगहों से चोरी करने के कारण निकाला गया है, आप उसे न रखिये। पर वे कहने लगे—'वाह, दो जगह चोरी की, इसके ये मानी कैसे होते हैं कि वह तीसरी जगह भी जरूर चोरी करेगा? क्या आगे चल कर उसका आचरण सुधर नहीं सकता?' यह कह कर

उसे अपने यहाँ रख लिया। किसी प्रकार उस शख्स को विद्यार्थी जी की यह बात मालूम हो गई। वह विद्यार्थी जी की सरलता तथा उदारता पर अवाक हो गया और अपने अतीत जीवन के कार्य के लिये उसके हृदय में बड़ी ग्लानि हुई। इसके बाद उसका जीवन बहुत कुछ सुधर गया।

× × ×

एक सज्जन पर राजनैतिक अभियोग चल रहा था। उनसे एक बड़ी-सी जमानत माँगी गई थी। देने में कठिनाई पड़ रही थी। विद्यार्थी जी ने इसके सम्बन्ध में श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के पास लिखा। गुप्त जी उन महाशय को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। विद्यार्थी जी ने गुप्त जी को इस प्रकार लिखा—"मैं जानता हूँ, तुम उन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखते; परन्तु इस समय जिस कारण वे कष्ट में हैं उस पर विचार करते हुए हम सब का धर्म है कि जितनी सहायता उनकी कर सकें अवश्य करें।..... के द्वारा जमानत करा दी जाय। यदि रुपये मारे जायँगे तो उसके जिम्मेदार हम होंगे।" गुप्त जी ने अपनी भूल महसूस की। मनुष्य में अनेक अवगुणों के होते हुए, एकाध ऐसा गुण भी होता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विद्यार्थी जी सदा ऐसा ही करते थे।

× × ×

दूसरों के दुख को देख कर द्रवित हो उठना और उसके प्रतीकार की प्रत्येक प्रकार से चेष्टा करना विद्यार्थी जी के जीवन का

एक विशेष अंग था। दुखी, ग़रीब, आर्त और असहाय लोगों का उनके पास बराबर तांता लगा रहता था। मानो वे अपने रक्षक, अपनी माता या अपने पिता के पास आये हों। उनके दुख-दर्द की कहानी ब्योरेवार विद्यार्थी जी सुनते और उसे दूर करने का यत्न करते। ये प्रायः मजदूर-सभा वाले, देहातों से आये हुए किसान, शहर के कोई दुखी सज्जन अथवा निर्धन विद्यार्थी होते थे। 'प्रताप' प्रेस सदा आर्त और असहायों का सहायक सदन बना रहता। जिसे कहीं कोई सहारा न मिले, उसे 'प्रताप' प्रेस में सहारा भी मिल जाता और सहायता भी। अपने ४ वर्ष के विद्यार्थी जी के सहवास में मैंने शायद ही किसी को उनके पास से विमुख हो कर जाते देखा हो। भोजन के लिये तो मानो वहाँ सदाव्रत ही खुला हुआ था। राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के लिये तो 'प्रताप' प्रेस उस समय भी, और आज भी, उनके अपने घर के बराबर रहा है। जेलों में बन्द राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के निःसहाय परिवारों की वे सदा खोज-खबर लेते तथा मदद पहुँचाते रहते थे। किसी के घर पर रुपया भेज रहे हैं तो कहीं कपड़े ही जा रहे हैं; किसी की कन्या की शादी का प्रबन्ध करवा रहे हैं तो किसी के लड़के के पढ़ने का इन्तजाम कर रहे हैं। कहते थे—'कोई आदमी किसी निर्धन के घर जन्मा, केवल इसीलिये उसे मानवी शक्तियों के विकास की सहूलियतों और साधनों से वंचित नहीं किया जाना चाहिये; और समाज के हर-एक व्यक्ति का फर्ज है कि वह अधिक से अधिक जितनी मदद ऐसे शख्स की कर सकता हो, अवश्य

करे। इस प्रकार जितने आदमियों को उन्होंने मदद पहुँचायी, विपत्ति से बचाया, और पढ़ने लिखने की सुविधा की, अगर उन सब का उल्लेख किया जाय तो उसी की एक पुस्तक तैयार हो सकती है।

एक दिन विद्यार्थी जी 'प्रताप' प्रेस में बैठे कुछ लिख रहे थे। छुट्टी का दिन होने के कारण प्रेस बन्द था। इसी समय अचानक एक आदमी भीतर घुस आया और विद्यार्थी जी के सामने पहुँच कर रेल में अपने माल-असबाब के चोरी हो जाने का दुखड़ा रोने लगा। विद्यार्थी जी ने बिना कुछ पूछताछ किये ही अपनी जेब से जितने रुपये-पैसे थे सब निकाल कर उसे दे दिये और बोले कि आज छुट्टी होने से प्रेस बन्द है। जो कुछ मेरे पास है दे दिया। अगर चाहो तो इनमें से कुछ पैसे मेरे खर्च के लिये छोड़ दो और यदि तुम्हें ज्यादा जरूरत हो तो सब ले जाओ। वह आदमी उनके लिये कुछ भी नहीं छोड़ गया और विद्यार्थी जी चुपचाप फिर अपना काम करने लगे।

× × ×

विद्यार्थी जी में उदारता और सहिष्णुता इतनी अधिक थी कि चाहे अपनी पत्नी हो या पुत्र, चाहे मित्र हो या कोई कार्यकर्त्ता या सहकारी, किसी प्रकार जबरन वे अपना विचार उस पर लादते न थे। उनका ख्याल था कि जिस प्रकार वे अपने विचार और कार्य में स्वतंत्र हैं, उसी प्रकार सबों को अपने विचारों और कामों में पूरी आजादी होनी चाहिये। सभी को अपनी-अपनी धारणा और

विश्वास के अनुसार चलना चाहिये। इस प्रकार चलने से अगर वह गलती करता है तो कोई चिन्ता नहीं, ठोकर खाने के बाद खुद ही वह सँभल जायगा। हाँ, अपने आचरण द्वारा सब बातों में आदर्श पेश करने के लिये वे बराबर सचेष्ट रहते थे। छुआछूत के वे बहुत खिलाफ थे, इसका उल्लेख किया जा चुका है। उनके मित्र श्री मैथिलीशरण जी गुप्त इसके पक्षपाती हैं। पर कभी भी उन्होंने उनसे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। स्वयं गुप्त जी इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं:—"खान-पान के सम्बन्ध में आज भी मैं पुराण-पन्थी हूँ, उस समय (१९१४-१५) तो था ही। गणेश जी छुआछूत और कच्ची-पक्की का भेद नहीं रखते थे। परन्तु भेद रखने वालों को "भ्रष्ट" भी नहीं करना चाहते थे। "भ्रष्ट" शब्द उन्हीं का है। स्वर्गवास के कुछ दिनों पहले तक भी वे कभी-कभी मुझसे विनोद में कहा करते थे कि एक दिन तुम्हें भी भ्रष्ट करके अपनी पंक्ति में ले लेंगे। परन्तु इसके लिये उन्होंने कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। फिर भी मुझे यह मानना पड़ेगा कि विचारतः उन्होंने मुझ पर विजय पाई।"

× × ×

विद्यार्थी जी की अपने गुरुजनों, मित्रों अथवा सहकारियों के प्रति श्रद्धा और स्नेह में कोई कमी नहीं आती थी। आचार्य पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के और इनके राजनैतिक विचारों में बड़ा अन्तर था; फिर भी अपने गुरु के नाते वे द्विवेदी जी की बड़ी इज्जत करते, बहुत सम्मान देते थे। यह बात निम्नलिखित घटना

से बहुत स्पष्ट हो जायगी। पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी, द्विवेदी जी का जीवन चरित्र लिखना चाहते थे। पर साधन-हीन होने के कारण यह काम नहीं हुआ। चतुर्वेदी जी ने विद्यार्थी जी के पास पत्र लिखते समय एक बार इसका ज़िक्र किया। उसका उत्तर विद्यार्थी जी ने चतुर्वेदी जी को अपने ४ फरवरी १९३० के पत्र में इस प्रकार दिया:—"......आपने द्विवेदी जी के पत्र की नकल भेज कर मेरी धारणा को और भी दृढ़ कर दिया। मैं उन्हें बहुत पहले से बहुत कोमल भावनाओं का व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी से छोटी अनुकम्पा को भी नहीं भूलते, और अपने निकट के आदमियों को इतना चाहते हैं कि देख कर दंग रह जाना पड़ता है। ऊपर उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूर का आदमी उनसे सदा घबड़ाया करता है। आपने यह अवसर बुरा छोड़ा। दो चार सौ रुपये की तो कोई बात नहीं है। अब भी मैं तैयार हूँ। आप ऐसा पारखी ही उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिये। आप जानते हैं कि जानसन बड़ा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनी का लेखक बासवेल न बनता। आप पूज्य द्विवेदी जी के पास कुछ दिन अवश्य रहिये। सम्भव है, वे अभी जियें; किन्तु किसी के जीने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता *। उनमें कितने ही ऐसे गुण हैं कि आने वाली सन्तति उन गुणों की कथा सुन कर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके बासवेल बन जाइये; जो

* कौन जानता था कि विद्यार्थी जी की यह उक्ति उन्हीं पर लागू होगी?

खर्च पड़े उसका जिम्मेदार मैं। आपके पास भी कामों की कमी नहीं है। किन्तु दो-तीन बार में आप कुछ सप्ताहों का समय निकाल सकते हैं। आशा है, आप मेरी इस प्रार्थना पर पूरी तरह ध्यान देंगे।"

× × ×

विद्यार्थी जी में साम्प्रदायिकता छू भी नहीं गई थी। भीतर-बाहर सर्वत्र एक रंग में रँगे थे। अगर उनका हृदय चीर कर कोई देख सकता तो देखता कि जिस प्रकार उनका बाह्य शरीर और कर्म राष्ट्रीयता से परिप्लावित था, उसी प्रकार उनका हृदय, अन्तरंग भी राष्ट्रीयता के रंग में ही सराबोर था। हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई, सब को वे एक दृष्टि से देखते थे। देश के सबसे बड़े दो समुदायों—हिन्दू और मुसलमानों—का पारस्परिक कलह बहुत दिनों से चला आता है। विद्यार्थी जी मनसा-वाचा-कर्मणा इस भयंकर भेद-भाव को दूर कर, इन दोनों बड़े समुदायों में एकता स्थापित करने का यत्न करते रहे। जो लोग 'प्रताप' को बराबर देखते रहे हैं, वे जानते हैं कि विद्यार्थी जी 'प्रताप' के कालमों में जिस प्रकार मुसलमानों को उनकी साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, अन्याय वा ज्यादतियों के लिये फटकार बतलाते रहे, ठीक उसी प्रकार हिन्दुओं को भी बतलाते रहे। हिन्दू होने के नाते, हिन्दुओं के साथ कहीं भी, कुछ भी पक्षपात करते वे नहीं देखे गये। जब, जहाँ, जैसा मौका मिला, उन्होंने दोनों समुदाय वालों की समान सेवा की। अपने जीवन के अन्तिम दिन तो उन्होंने अपनी इस मनोवृत्ति का

अत्यन्त ही उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित कर दिया, और अन्त में अपने उसी आदर्श की रक्षा के निमित्त उन्होंने अपने को उत्सर्ग कर दिया।

× × ×

जिसकी लेखनी में बड़ी शक्ति होती है, उसकी वाणी में प्रायः उतना बल नहीं होता। परन्तु विद्यार्थी जी में एक अलौकिक सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। वे उत्कृष्ट सम्पादक थे तो साथ ही कुशल प्रबन्धक भी; प्रवीण लेखक थे तो साथ ही प्रभावशाली व्याख्यानदाता भी; वे नेता होने की क्षमता रखते थे तो साथ ही सेवक और सिपाही की विनम्रता और अनुशासन-शीलता भी; वे बड़ी-बड़ी योजनायें भी तैयार कर सकते, और साथ ही उन्हें कार्य रूप में परिणत भी कर दिखाते थे। एक साथ ही अनेक काम कैसे किये जा सकते हैं, उन्होंने अपने जीवन में इसे प्रत्यक्ष कर दिखाया।

जितने अच्छे ढंग से लेख लिख कर विद्यार्थी जी अपने पाठकों का मन मुग्ध कर उन्हें प्रभावित करते थे, उतनी ही खूबसूरती के साथ वे अपने व्याख्यानों द्वारा श्रोताओं को भी मंत्र-मुग्ध करके उन पर असर डालते थे। अनेक बार उनके व्याख्यानों को सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ, पर कभी भी उनमें मुर्दादिली अथवा शिथिलता न मालूम पड़ी; सदा ज़िन्दादिली और उत्साह का स्रोत उमड़ता पाया। जिस समय वे भाषण देने के लिये उठते, हज़ारों की तादाद में शोरोगुल मचाती हुई बैठी जनता एकदम शान्त हो जाती, सारा शोरोगुल बन्द हो जाता और मालूम होता कि

श्रोता-मण्डली बड़ी उत्सुकता और प्रेम से उनके व्याख्यान के एक एक शब्द को सुन रही है । सुनने वाले उनकी युक्तियों और प्रभाव-शालिनी शैली से दंग रह जाते ।

× × ×

विद्यार्थी जी 'प्रताप' का आदर्श बहुत ऊँचा रखना चाहते थे। वे अपने वैयक्तिक लाभ के लिये तो उसका उपयोग कभी करते ही न थे। यद्यपि कौंसिल के चुनाव के लिये वे कांग्रेस की ओर से बड़ी मुश्किल से खड़े हुए थे, पर 'प्रताप' से उन्होंने अपने चुनाव के लिये कोई फ़ायदा न उठाया। एक बार पं० शिवनारायण मिश्र को चुनाव-सम्बन्धी किसी लेख के लिये 'आज' के किसी पुराने अंक की जरूरत पड़ी। बाजार से 'आज' मोल मँगा लिया गया और 'प्रताप' के हिसाब में उसका ख़र्च डाल दिया गया। वाउचर पर श्री सुरेन्द्र शर्मा के दस्तखत थे। जब विद्यार्थी जी ने उस हिसाब को देखा तो शर्मा जी से इसकी कैफियत पूछी। चुनाव के काम के सम्बन्ध में 'आज' मँगाया गया और उसका ख़र्च 'प्रताप' के सिर डाला गया, यह जान कर विद्यार्थी जी बहुत नाराज़ हुए। उन्होंने उस वाउचर को वहीं फाड़ डाला और श्री सुरेन्द्र शर्मा को 'आज' के वे पैसे देने पड़े।

× × ×

उनमें एक सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि वे अपने स्वास्थ्य की क़तई पर्वा नहीं करते थे। उनकी धर्मपत्नी सदा बीमार रहतीं और बच्चों में भी एक न एक आये-दिन पड़ा ही रहता। उनकी

दवा-दारू, सेवा-शुश्रूषा आदि में भरसक कोई कमी न होती। पर अपने स्वास्थ्य की कोई चिन्ता नहीं। एक ओर तो स्वास्थ्य की ओर इतनी उपेक्षा और दूसरी ओर कार्य का अत्यन्त बोझ। फल-स्वरूप कोई न कोई शिकायत सदा बनी ही रहती थी। जिगर की खराबी तो उन्हें खास तौर से तकलीफ देती थी। घर का भार, 'प्रताप' का भार, कानपुर के अनेक सार्वजनिक कामों का भार, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी तथा ऐसे और अनेक कामों का भार उनके सर पर सदा लगा रहता था। वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे; फिर वे काम भला अपने ऐसे सच्चे और कार्य-तत्पर सेवक को क्यों छोड़ने लगे? इस कारण आराम करने अथवा स्वास्थ्य सुधारने की फुर्सत उन्हें कभी नहीं मिली। बहुत हुआ तो सुबह घूमने चले जाते। पर उतने से क्या होता? मित्र मण्डली उन्हें कुछ कामों को कम कर स्वास्थ्य सुधारने को कहती, पर वे उसकी एक न सुनते; बराबर राष्ट्रीय कार्य की धुन में व्यस्त रहते। अक्सर ऐसा भी होता कि घर में पत्नी या बच्चे को बीमार छोड़ कर वे अपने पूर्व-निश्चित प्रोग्राम के अनुसार निश्चित जगह पर चले जाते। सभा-सोसाइटियों में जा कर व्याख्यान देने, सभापतित्व करने से वे बराबर बचने की चेष्टा करते; पर अगर उसे मंजूर कर लेते तो पूरी जिम्मेदारी के साथ उसे निभाते थे। गोरखपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में जाना था। वे ही सभापति थे। पर छोटा लड़का सख्त बीमार। फिर भी उसे उसी दशा में छोड़ कर गोरखपुर चले गये! १९३० ई० के सत्याग्रह आन्दोलन का जमाना था। घर में धर्मपत्नी

बीमार थीं, खुद भी ज्वर से पीड़ित थे, पर नरवल जाना जरूरी था, उसी हालत में चले गये। वहाँ से लौटने पर उसी दशा में फतेहगढ़, हरदोई, इलाहाबाद आदि स्थानों का चक्कर लगाते रहे। स्वास्थ्य नष्ट हो जाय तो हो जाय, शरीर रहे या न रहे, पर सार्वजनिक कार्य को पूरी जिम्मेदारी के साथ निभाना चाहिये, वे इसके जबर्दस्त हिमायती थे।

विद्यार्थी जी का व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली तथा उनकी प्रतिभा बड़ी आबदार थी। वे अगर होते तो देश, साहित्य और समाज का कितना भला करते, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उनके निधन से युक्त प्रान्त के हर एक कांग्रेस तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ता तथा किसानों और मजदूरों को प्रान्त में एक बड़ी कमी मालूम पड़ती है। उनका निधन क्या हुआ, कानपुर का ध्रुव तारा अस्त होगया, आर्त किसान और मजदूर अनाथ हो गये, पत्रकारों का सिर-मौर लुट गया और पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी के शब्दों में 'पत्रकार कला विधवा हो गई।'

ईश्वर करे, देश के नौजवान किसान और मजदूर—जिनके लिये उस महापुरुष के हृदय में सबसे अधिक प्रेम और स्नेह था—उस अमर शहीद के बलिदान से कुछ सबक सीखें; जब तक जीवित रहें, उसी के समान दूसरों के लिये जीवित रहें और मरें भी तो दूसरों ही के लिये—उसी में अपना गौरव समझें।

आत्मोत्सर्ग

" ...... मुझे अब जेल जाने की जरा भी इच्छा नहीं है। मैं तो गोली से मरना चाहता हूँ, फाँसी चढ़ना चाहता हूँ ।"

— गान्धी जी

कौन भूल सकता है कानपुर के उस भीषण नर-संहारकारी हिन्दू-मुस्लिम दंगे को ? हिन्दुस्तान में आज तक उसके मुकाबिले का भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा दूसरा कोई न हुआ था। बीसों मन्दिर और मस्जिदें तोड़ी और जलाई गई, हजारों मकान और दुकानें लुटीं तथा भस्मीभूत हुई । लगभग ७५ लाख की सम्पत्ति स्वाहा हो गई, करीब ५०० से भी ऊपर आदमी मरे और हजारों घायल हुए ! कितनी माताओं के लाल काल के गाल में जा बसे, कितनी युवतियों की माँग का सिन्दूर धुल गया—हाथ की चूड़ियाँ फूट गई, कितने फूल से कोमल और गुलाब से आकर्षक नवजात शिशु और बच्चे मूलो-गाजर की तरह काट डाले गये और कितने मातृ-पितृ-हीन हो.कर निराश्रित और निःसहाय बन गये ! कितने लखपती भिखारी बन गये और कितने भिखारी पुलाव-कलिया, पूड़ी-हलुआ, उड़ाने लगे ! ऐसा भयंकर, ऐसा सर्वनाशकारी, ऐसा आतंक-पूर्ण था कानपुर का वह दंगा ! परन्तु यह सब होते हुए भी इसका नाम चिरस्थायी न होता, इसको वैसी प्रधानता न मिलती, अगर श्रद्धेय

गणेशशङ्कर विद्यार्थी आत्माहुति दे कर, हिन्दू मुसलमानों के लिए एक महान और सर्वथा अनुकरणीय आदर्श उपस्थित न कर जाते। कानपुर की उपरोक्त सब क्षति मिल कर भी, एक गणेश जी की क्षति की बराबरी नहीं कर सकती; गणेश जी वाला पलड़ा ही सदा भारी रहेगा।

चार दिन तक कानपुर में महाकाली अपना प्रचण्ड रूप धारण करके अपनी विकरालता दिखला गई। उन दिनों कानपुर में कोई शासन, कोई व्यवस्था, कोई कानून न था, अंग्रेजी राज्य चार दिन के लिये मानो खतम हो गया था। कानपुर पर विपत्ति के काले बादल मँड़रा रहे थे। चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। कोई किसी को पूछने वाला न था। हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे थे। दोनों अपनी मानवता भूल कर राक्षसी-पन पर उतर पड़े थे। धर्म और मजहब के नाम पर परमात्मा और ख़ुदा का नाम लजाया जा रहा था। क्या बच्चा, क्या वृद्ध, क्या पुरुष और क्या स्त्री, किसी का भी जीवन सुरक्षित न था। चारों ओर घमासान नर-संहार, भयंकर लूट-मार और हृदय को दहला देने वाला दृश्य उपस्थित था। हिन्दू मोहल्लों में मुसलमान और मुसलमान मोहल्लों में हिन्दू लूटे-मारे, जलाये, और कत्ल किए जा रहे थे। मनुष्य में पशुता और राक्षसीपन की मात्रा किस हद तक पहुँच सकती है, इसको अध्ययन करने का बड़ा अनोखा मौका था वह! ऐसे गाढ़े समय में बड़े बड़े मर्दाने वीर भी आगे बढ़ने से हिचक रहे थे। पर उस वीर से न रहा गया, वह आग में कूद पड़ा

और अपने को हिन्दू-मुस्लिम एकता की वेदी पर, परोपकारिता के उच्च आदर्श पर, सैकड़ों स्त्री-पुरुषों की प्राण-रक्षा करने की लगन पर, मनुष्यता पर, और सबसे अधिक अपने जीवन की अन्याय तथा अत्याचार-विरोधिनी उत्कृष्ट भावना पर निछावर हो गया! ऐसे कठिन समय पर वह कानपुर वालों की यथाशक्ति सहायता करने से कैसे बाज़ आता?

२४ मार्च मंगलवार १९३१ ई० (चैत्र सुदी ५ सं० १९८८) को कानपुर में हिन्दू-मुसलिम दंगा शुरू हुआ। विद्यार्थी जी निकले और झगड़े के स्थानों में पहुँच कर लोगों को शान्त करने, उनकी प्राण-रक्षा करने, तथा उनके मकानों और दूकानों को जलने एवं लूटे जाने से बचाने की कोशिश करने लगे। शाम तक वे इसी धुन में मारे-मारे फिरते रहे। आज लोगों को बचाते वक्त उनके पैरों में कुछ चोट भी आई। उस दिन पुलिस का जो रवैया उन्होंने देखा, उससे वे इस नतीजे पर पहुँचे कि पुलिस बिलकुल पक्षपात और उपेक्षा से काम ले रही है, ऐसी दशा में लोगों के जान-माल की रक्षा के लिये जाना बिलकुल व्यर्थ है।

पर २४ ता० की रात में और २५ को सुबह दंगे का रूप और भी भीषण हो गया तथा चारों तरफ से लोगों के मरने, घायल होने, मकानों के जलाये और दूकानों के लूटे जाने की ख़बरें आने लगीं। इन लोमहर्षण समाचारों को सुन कर विद्यार्थी जी का सदा का दया-पूर्ण और परोपकारी हृदय पिघल उठा तथा वे नौ बजे सुबह सिर्फ थोड़ा-सा दूध पी कर लोगों को बचाने के लिये चल पड़े। उनकी

धर्मपत्नी ने जाते समय कहा—'कहाँ इस भयंकर दंगे में जाते हो?' उन्होंने जवाब दिया—"तुम व्यर्थ घबड़ाती हो। जब मैंने किसी की बुराई नहीं की तब मेरा कोई क्या बिगाड़ेगा? ईश्वर मेरे साथ है।"

उनके दो-एक मित्रों ने भी यह कह कर कि ऐसी भीषणता में जाना ठीक नहीं है, उन्हें जाने से रोका; पर वे न रुके, चले गये। शुरू में उनको पटकापुर वाले ले गये और वहाँ के करीब ५० आदमियों को उन्होंने सुरक्षित स्थानों में भेजा। वहाँ से वे बंगाली-मोहाल और फिर इटावा-बाजार पहुँचे। लगभग ३ बजे वे इन दोनों मोहल्लों के मुसलमानों को धधकते और गिरते हुए मकानों से निकाल-निकाल कर उनके इच्छित स्थानों को भेजते रहे। इस प्रकार करीब १५० मुसलमान स्त्री, पुरुष और बच्चों को उन्होंने वहाँ से बचाया। कितने मुसलमानों का तो उन्होंने और कोई सुरक्षित जगह न देख कर, अपने विश्वासी हिन्दू मित्रों के यहाँ रख कर उनकी जान बचाई। उस समय जिन्होंने उन्हें देखा यही देखा कि विद्यार्थी जी अपना डेढ़ पसली का दुबला पतला शरीर लिये नंगे पाँव, नंगे सिर, सिर्फ एक कुर्ता पहने, बिना कुछ खाये-पिये, बड़ी मुस्तैदी और लगन के साथ घायलों तथा निःसहायों के बचाने में व्यस्त थे। किसी को कन्धे पर उठाये हुए हैं तो किसी को गोदी में लिये अपनी धोती से उसका खून पोंछ रहे हैं। किसी को डाँट कर तो किसी को आरजू मिन्नत से, किसी जगह सत्याग्रह द्वारा तो कहीं प्रेम के साथ वे विपत्तिग्रस्त लोगों को नर-पिशाचों के चंगुल से बचाते रहे।

उनके लिये क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, सब एक समान थे। सभी समुदायों के अच्छे कामों से उनका हृदय गद्गद और शान्त होता था और सभी के बुरे कार्यों से दुखी। बंगाली-मोहाल में जब वे मुसलमानों को बचाने में व्यस्त थे, उन्हें भूखे-प्यासे देख हिन्दू भाइयों ने उन्हें जल पीने को कहा। वहाँ पर होने वाले अत्याचारों को देख कर वे क्षुब्ध हो उठे थे। उन्होंने जवाब दिया—'जिस मोहल्ले में हमारे भाइयों (मुसलमानों) पर इतना अत्याचार हो रहा है, मैं वहाँ कदापि पानी नहीं पी सकता।' इसके बाद बगल के दूसरे मोहल्ले में फिर एक भाई ने उनसे जल पीने का अनुरोध किया, तो उन्होंने कहा कि 'मेरे साथ में जो मुसलमान भाई हैं, जब तक वे पानी नहीं पियेंगे, मैं कदापि नहीं पी सकता'। इस पर उन हिन्दू सज्जन ने मुसलमान भाइयों को खिलाया-पिलाया, और तब विद्यार्थी जी ने भी वहाँ पानी पिया।

इसी बीच उनसे लोगों ने मुसलमानी मोहल्लों में हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारों का हाल कहा। यह जानते हुए भी कि जहाँ की बात कही जा रही है, वहाँ मुसलमान ही मुसलमान रहते हैं और वे इस समय बिलकुल धर्मान्ध हो कर पशुता का ताण्डव-नृत्य कर रहे हैं, विद्यार्थी जी निर्भीकता के साथ उधर चल पड़े। रास्ते में उन्होंने मिश्री-बाजार और मछली-बाजार के कुछ हिन्दुओं को बचाया और वहाँ से चौबे-गोला पहुँचे। वहाँ पर विपत्ति में फँसे हुए बहुत से हिन्दुओं को उन्होंने निकलवा कर सुरक्षित स्थानों में भेजा तथा औरों के विषय में वे पूछ ही रहे थे, कि मुसलमानों ने

उन पर तथा उनके साथ के स्वयं-सेवकों पर हमला करना चाहा। इस समय उनके साथ दो हिन्दू और एक मुसलमान स्वयं-सेवक थे। मुसलमान स्वयं-सेवक के यह कहने पर कि "पण्डित जी को क्यों मारते हो, इन्होंने तो सैकड़ों मुसलमानों को बचाया है," भीड़ ने उन्हें छोड़ दिया। इसके थोड़ी ही देर बाद मुसलमानों के एक दूसरे गिरोह का एक आदमी आगे बढ़ा। मुसलमान स्वयं-सेवक ने उसे भी समझाया कि 'पण्डित जी ने सैकड़ों मुसलमान भाइयों को बचाया है, इन पर वार न करो', पर उसने इस पर विश्वास न किया और भीड़ को विद्यार्थी जी को मारने का इशारा कर दिया। इसी समय कोई एक सज्जन विद्यार्थी जी को बचाने की गरज से, उन्हें गली की ओर खींचने लगे। इस पर विद्यार्थी जी ने उनसे कहा—" क्यों घसीटते हो मुझे ? मैं भाग कर जान नहीं बचाऊँगा। एक दिन मरना तो है ही। अगर मेरे मरने से ही इन लोगों के हृदय की प्यास बुझती हो, तो अच्छा है कि मैं यहीं अपना कर्तव्य-पालन करते हुए आत्म-समर्पण कर दूँ।" विद्यार्थी जी यह कह ही रहे थे कि चारों ओर से उन पर तथा स्वयं-सेवकों पर मुसलमान लोग टूट पड़े। लाठियाँ भी चलीं, छुरे भी चले और न जाने किन-किन अस्त्रों के वार हुए। मुसलमान स्वयं-सेवक थोड़ी मार के बाद मुसलमान समझ के छोड़ दिया गया। हिन्दू स्वयं-सेवक दोनों बुरी तरह घायल हुए। इनमें श्री ज्वालादत्त नामक एक स्वयं-सेवक तो वहीं स्वर्ग-वासी हुए, पर दूसरे की जान बच गई।

विद्यार्थी जी को कितनी चोट लगी, वे कितनी देर बाद मरे और वहाँ से उनकी लाश कब, कौन, कहाँ ले गया, इसका कुछ भी ठीक-ठीक पता आज तक नहीं चला। श्री शंकरराव टाकलीकर नामक जो दूसरे हिन्दू स्वयं-सेवक अन्त तक विद्यार्थी जी के साथ थे और जो बच गये, उनका बयान इस प्रकार है— "वे (विद्यार्थी जी) मैदा-बाजार की ओर बढ़े। साथ के मुसलमान स्वयं-सेवक, लोगों के घर बतलाते जाते तथा दूसरे स्थानों में ले जाते। वहाँ से वे नये-चौक गये। वहाँ मुसलमानों का जोर था। वहाँ के हिन्दुओं की रक्षा की गई। कुछ मुसलमानों की भी रक्षा की गई। इसी बीच एक भयभीत हिन्दू दौड़ता हुआ आया और बोला—मेरे घर के आदमी करीम-की-चक्की के पीछे घिरे हैं, दया कर के उन्हें निकलवा दीजिये।—वे वहीं चल दिये। जब वे करीम-की-चक्की वाली गली में पहुँचे तो देखा कि वहाँ हथियार-बन्द मुसलमानों की भीड़ खड़ी है। सब को पीछे रोक कर वे आगे बढ़े और वहाँ के उत्तेजित मुसलमानों को समझाने लगे। उन्होंने एक मुसलमान स्वयं-सेवक के साथ आगे बढ़ कर उस व्यक्ति के घर वालों को बचाया। उनके मना करने पर भी हम लोग उनके पीछे चल दिये। साथ के मुसलमान सज्जन ने वहाँ के मुसलमानों को विद्यार्थी जी का परिचय कराया। उन्होंने बतलाया कि उन्होंने २०० मुसलमानों की रक्षा की है। इस पर सब चुप रहे। लोगों ने हाथ मिलाया और सलाम किया। वहाँ के पीड़ित परिवारों की रक्षा कर उन्हें दूसरी जगह भिजवा दिया।

अब वहाँ से मूलगंज और लाठी-मुहाल के मुसलमानों की रक्षा के लिये जाने का निश्चय हुआ। इतने ही में एक मुसलमान आगे बढ़ा और उसने विद्यार्थी जी पर वार करना चाहा। साथ के मुसलमान स्वयं-सेवक ने उसे रोका और विद्यार्थी जी का परिचय कराया। वह बिगड़ कर कहने लगा—'यहाँ के हिन्दुओं को निकालने तो पहुँच गये, लेकिन बंगाली-मोहाल में फँसे मुसलमानों की आपने रक्षा क्यों नहीं की?' मुसलमान स्वयं-सेवक ने उसे समझाया कि 'पंडित जी ने वहाँ के बहुत से मुसलमानों को बचाया है, और उन्हें पटकापुर भेज दिया है।' उसने इस पर विश्वास नहीं किया, और अपने साथियों से कहा—'मारो इन सालों को।' इतना कहते ही सब मुसलमान लाठियाँ, काँते, बल्लम, कटार आदि ले ले कर निकल पड़े और वार करने लगे। इस समय उनके पास एक मुसलमान और दो हिन्दू स्वयं-सेवक थे। किसी मुसलमान ने विद्यार्थी जी का हाथ पकड़ कर उन्हें गली की ओर भाग चलने के लिये खींचना चाहा। परन्तु विद्यार्थी जी बोले—'क्यों मुझे घसीटते हो? मैं भाग कर जान नहीं बचाऊँगा। एक दिन मरना तो है ही। अगर मेरे मरने से ही इन लोगों के हृदय की प्यास बुझती हो तो अच्छा है कि मैं यहीं अपना कर्त्तव्य-पालन करते हुए आत्म-समर्पण कर दूँ।' यह कह कर उन्होंने सिर झुका दिया। आततायियों के हृदय में लेश-मात्र भी दया का संचार न हुआ। वार हुए। एक हिन्दू स्वयं-सेवक मारा जा चुका था। मैं घायल पड़ा था। मुसलमान स्वयं-सेवक पर मुसलमान होने के कारण थोड़ी ही मार पड़ी,

वह छोड़ दिया गया। विद्यार्थी जी के सिर पर लाठी पड़ी। खून निकलने लगा। मुझे चक्कर आ गया। मैं विद्यार्थी जी का नाम ले कर चिल्ला पड़ा। इस पर किसी ने पीछे से आवाज़ दी 'गणेश जी जहन्नुम में गये'। इस समय मुझ पर फिर लाठियाँ पड़ीं। एक वृद्ध मुसलमान ने दया कर के मुझे घसीट कर पास की गली में डाल दिया। मैं बेहोश हो गया। होश आने पर अपने को सरदार नारायणसिंह के मकान में पाया।"

दूसरे दो-चार व्यक्तियों के कथन से भी विद्यार्थी जी के चौबे-के-गोला नामक स्थान तक जाने और वहाँ मुसलमानों की भीड़ में घिरने की बात का पता लगता है, और इसी निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि वहीं पर उन धर्मान्ध मुसलमानों के उन पर वार हुए तथा वहीं उनका प्राण-पखेरू उड़ गया। मरने के बाद मुसलमानों ने उन्हें शीघ्र ही वहाँ से हटा कर किसी मकान में छिपा लिया और दो-तीन दिन बाद जब कि लाश फूल कर बहुत बदसूरत हो गई और पहचाने जाने लायक नहीं रही, तब उन्होंने उसे किसी प्रकार और लाशों के साथ मिला कर अस्पताल में भेज दिया।

५॥ बजे 'प्रताप' प्रेस तथा विद्यार्थी जी के घर वालों को खबर लगी कि विद्यार्थी जी कहीं पर घायल हो गये हैं। पहले तो लोगों को विश्वास न हुआ कि विद्यार्थी जी पर कोई हाथ उठायेगा, पर जब घण्टे, डेढ़ घण्टे बाद तक भी उनके विषय में कुछ निश्चित पता न चला कि वे कहाँ हैं और कहाँ घायल हुए, तब सन्देह बढ़ा और कई मित्रों ने उन्हें ढूँढ़ना शुरू किया। ११ बजे रात तक

बराबर उनकी खोज होती रही, पता लगाया जाता रहा, पर कुछ भी पता न चला। चौबे-गोला आने तक की बात लोग बतलाते थे, पर उसके बाद कहाँ गये, कैसे घायल हुए, यह कोई न बतलाता था। यह हाल देख विद्यार्थी जी के घर वालों और मित्रों को यह प्रायः निश्चय हो गया कि वे मार डाले गये, परन्तु फिर भी २६ ता० को दिन भर उनकी खोज होती रही। २७ मार्च को एकाएक पता चला कि अस्पताल में जो बहुत-सी लाशें पड़ी हुई हैं, उनमें एक के विद्यार्थी जी की लाश होने का सन्देह है। तुरन्त पं० शिवनारायण मिश्र और डा० जवाहरलाल वहाँ पहुँचे और यद्यपि लाश फूल कर काली पड़ गई थी, बहुत कुरूप हो गई थी, फिर भी उन्होंने उनके खद्दर के कपड़े, उनके अपने ढंग के निराले बाल तथा हाथ में खुदे हुए 'गजेन्द्र' * नाम आदि, देख कर पहचान लिया कि दरअसल वह विद्यार्थी जी ही की लाश थी। उनका कुर्ता अभी तक उनके शरीर पर था और उनके जेब से तीन पत्र भी निकले, जो लोगों ने विद्यार्थी जी को लिखे थे। उन्हें देख कर यह बिलकुल निश्चय हो गया कि लाश विद्यार्थी जी ही की है। उस दिन देर हो गई थी, साथ ही कराँची में खबर पा कर महात्मा जी और पं० जवाहरलाल जी ने तार दिया था कि हम श्री पुरुषोत्तम दास टंडन और पं० बालकृष्ण शर्मा को भेज रहे हैं।

* विद्यार्थी जी के हाथ में लड़कपन से 'गजेन्द्र' खुदा हुआ था। इस नाम से वे पहले लेख भी लिखते थे।

इसलिये सोचा गया कि उनके आने पर ही लाश का अन्तिम संस्कार हो, इसलिये उस दिन उनके शव की दाह-क्रिया नहीं हुई। दूसरे दिन भी, चूँकि ये लोग देर से पहुँचे, शव की दाह-क्रिया न हो सकी। पर सब इन्तजाम कर लिया गया कि उसके दूसरे दिन अर्थात् २९ मार्च को सुबह ७।। बजे दाह-संस्कार हो जाय। दंगे का प्रकोप कुछ धीमा ज़रूर पड़ गया था, परन्तु अभी वह ख़तम न हुआ था। साथ ही विद्यार्थी जी के मरने की निश्चित खबर लोगों को नहीं लगी थी। उस दिन तक लोगों को खूब भुलावा दिया गया कि विद्यार्थी जी अच्छी तरह हैं, सिर्फ उन्हें कुछ चोट लगी है, वे मरे नहीं हैं। पुलिस के गुर्गों ने इस बात का खूब प्रचार किया। इस प्रकार लोग बिलकुल अँधेरे में रक्खे गये थे; क्योंकि बहुत संभव था कि विद्यार्थी जी के मारे जाने की खबर पा कर अधिक उत्तेजना फैल जाती और दंगा फिर भयंकर रूप धारण कर लेता। इसलिये दाह-संस्कार की खबर सिवा खास-खास मित्रों और अपने आदमियों के और किसी को नहीं दी गई। शव चुपचाप श्मशान घाट ले जाया गया; परन्तु इस अवस्था में भी बात की बात में वहाँ करीब १००० आदमी एकत्र हो गये। शहर के सभी गण्यमान और प्रतिष्ठित व्यक्ति पहुँच गये थे। इनके अलावा श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन, श्री रमाकान्त मालवीय और श्री आर० एस० पंडित भी वहाँ उपस्थित थे। बड़ा ही रोमांचकारी, बड़ा ही मर्मस्पर्शी और बहुत ही करुणा-जनक दृश्य था वह! सभी की आँखें आँसुओं

से छल-छला उठी थीं। सभी कानपुर के ध्रुव-तारा के अस्त होने की महान क्षति अनुभव कर रहे थे। तिरंगे झण्डे से आवेष्टित चिता में आग लगाई गई, धायँ-धायँ करके उसकी लपटें ऊपर उठने लगीं। कोई अपने हृदय में उस महापुरुष की वीरता की प्रशंसा कर रहा था तो कोई उसकी निर्भीकता और देश-भक्ति की ; कोई उसके त्याग और कष्ट-सहिष्णुता को याद कर आँसू बहा रहा था तो कोई उसकी प्रशंसनीय प्रतिभा और अनोखी शक्ति की ; कोई प्रान्त के किसान और मज़दूरों के दुर्भाग्य की बात सोच रहा था तो कोई, नवयुवकों का कोई ऐसा प्रभावशाली तथा प्रोत्साहन देने वाला नेता न रहा, यह महसूस कर रहा था ; कोई उनकी तुलना दधीचि कर रहा था तो कोई यह सोच रहा था कि कलियुग में ऐसा बलिदान आज तक नहीं हुआ। टंडन जी ने आँसू पोंछते पोंछते उपस्थित जनता के सामने विद्यार्थी जी के सम्बन्ध में एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी भाषण दिया, जिसमें लोगों को विद्यार्थी जी के आदर्श बलिदान सबक सीखने को कहा।

इस प्रकार विद्यार्थी जी ने अत्यन्त गौरवमय मृत्यु—ऐसी मृत्यु, जो हममें से शायद ही किसी को कभी नसीब हो—प्राप्त की। न जाने कितनों को वे अनाथ कर के, निराश्रित बना के, रुला के, चले गये। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों में वास्तव में "आज उस दीनबन्धु के लिये किसान रो रहे हैं। कौन उनकी उदर-ज्वाला को शान्त करने के लिये स्वयं आग में कूद पड़ेगा ? मजदूर पछता रहे हैं। कौन उन पीड़ितों का संगठन करेगा ? मवेशीखानों से

भी बदतर देशी राज्यों के निवासी आज अश्रुपात कर रहे हैं। कौन उन मूक पशुओं को वाणी प्रदान करेगा? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे हैं। कौन उनका दुखड़ा सुनेगा और सुनावेगा। राजनैतिक कार्यकर्त्ता रो रहे हैं। कौन उन्हें आश्रय दे कर स्वयं आफ़त में फँसेगा, उनके कन्धे से कन्धा मिला कर स्वातंत्र्य-संग्राम में आगे बढ़ेगा? और एक कोने में पड़े हुये उनके कुछ पत्रकार-बन्धु भी अपने को निराश्रित पा कर चुपचाप चार आँसू बहा रहे हैं। आपत्काल में कौन उन्हें सहारा देगा? किससे वे दिल खोल कर बात कहेंगे; किसे वे अपना बड़ा भाई समझेंगे और कौन अपने छुटभइयों का इतना ख्याल रखेगा?"

× × ×

अपनी मृत्यु के ७-८ घंटे पहले विद्यार्थी जी ने निम्नलिखित पत्र (जो उनका अन्तिम पत्र था) श्रीमती इन्दुमती गोयनका के नाम लिखा था:—

आदरणीया बहिन जी!

सादर नमस्कार। मैं आपसे भली-भांति परिचित हूँ। मेरी धारणा है कि मैंने आपको कलकत्ते में आज से दस वर्ष पहले देखा था। उस समय आप बहुत छोटी थीं। यहाँ की दशा निस्सन्देह बहुत बुरी है। हम लोग शान्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। आपकी यह इच्छा कि आप प्राणों पर खेल कर भी शान्ति के लिये प्रयत्न करें, बहुत स्तुत्य है। किन्तु मैं अभी आपको आगे आने के लिए नहीं कह सकता। मुसलमान नेताओं में से एक भी आगे नहीं बढ़ता।

पुलिस का ढंग बहुत निन्दनीय है। अधिकारी चाहते हैं कि लोग अच्छी तरह से निपट लें। पुलिस खड़ी खड़ी देखा करती है। मस्जिद और मन्दिर में आग लगाई जाती है। लोग पीटे जाते हैं, और दूकानें लूटी जाती हैं। यह दङ्गा तो कल ही समाप्त हो जाता, यदि अधिकारी तनिक भी साथ देते। मैंने अपनी आँखों से अधिकारियों की इस उपेक्षा को देखा है। ऐसी अवस्था में मैं आपको कैसे कहूँ कि आप आगे आइए। अधिकारियों को तो यह ईश्वर-दत्त अवसर प्राप्त हुआ है। वे इस पर सन्तुष्ट हैं। ईश्वर उनके इस सन्तोष को भंग करें, इस बात को सभी भले आदमी चाहेंगे।

विनीत,

'प्रताप' कार्यालय
कानपुर २५। ३। १९३१ } गणेशशङ्कर विद्यार्थी

× × ×

विद्यार्थी जी के निधन का समाचार मालूम होने पर २७ मार्च को करांची काँग्रेस की विषय-निर्धारिणी समिति में इसका उल्लेख करते हुए महात्मा गान्धी ने बहुत ही मर्मस्पर्शी शब्दों में इस प्रकार कहा था:—

श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी एक मूर्तिमान संस्था थे। ऐसे मौके पर उनकी मृत्यु का होना एक बड़ी दुखद बात है; परन्तु यह उनके योग्य ही था कि वे हिन्दू और मुसलमानों का, एक दूसरे का सर तोड़ने से उन्हें बचाते हुए मरे। अब समय आ गया है

कि हिन्दू और मुसलमान इस प्रश्न की महत्ता को महसूस करें और ऐसे दंगों के मूल कारण का अन्त करने की कोशिश करें।

करॉंची कांग्रेस ने विद्यार्थी जी के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया था:—

'कानपुर के दंगे में युक्तप्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्रीयुत गणेशशङ्कर विद्यार्थी की जो मृत्यु हुई है, उसके लिये कॉंग्रेस को अत्यन्त दुःख हुआ है। विद्यार्थी जी अत्यन्त त्यागी देश-सेवकों में थे और साम्प्रदायिक भावना से सर्वथा मुक्त होने के कारण सभी दलों और सम्प्रदायों के प्यारे बन गये थे। उनके परिवार वालों के प्रति समवेदना प्रकट करते हुए काँग्रेस इस बात पर अभिमान प्रकट करती है कि प्रथम श्रेणी के एक कार्यकर्त्ता ने खतरे में पड़े हुए लोगों के उद्धार तथा घोर उपद्रव और उन्मत्त उत्तेजना के समय शान्ति-स्थापन के प्रयत्न में अपने को बलिदान कर दिया। काँग्रेस सब लोगों से अनुरोध करती है कि वे इस उच्च बलिदान का उपयोग शान्ति की स्थापना तथा पुष्टि के लिये करें, प्रतिहिंसा उभाड़ने में कदापि न करें।'

महात्मा जी ने करॉंची से विद्यार्थी जी के सम्बन्ध में निम्न-लिखित तार पं० बालकृष्ण शर्मा के नाम भेजा था :—"काम में बहुत व्यस्त रहने के कारण मैं न तो कुछ लिख सका और न तार ही दे सका। यद्यपि हृदय खून के आँसू रोता है, फिर भी गणेश-शङ्कर की जैसी शानदार मृत्यु पर समवेदना प्रकट करने को जी नहीं चाहता। यह निश्चय है कि आज नहीं तो आगे किसी दिन

उनका निष्पाप खून हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को सुदृढ़ बनायेगा। इसी लिये उनका परिवार समवेदना का नहीं, बल्कि बधाई का पात्र है। ईश्वर करे, उनका (विद्यार्थी जी का) यह दृष्टान्त संक्रामक साबित हो।

—गान्धी।

'यंग इण्डिया' में महात्मा जी ने विद्यार्थी जी के बलिदान के बाद निम्नलिखित टिप्पणी लिखी थी:—

"गणेशशङ्कर विद्यार्थी को ऐसी मृत्यु मिली, जिस पर हम सब को स्पर्द्धा हो। उनका खून अन्त में दोनों मजहबों को आपस में जोड़ने के लिये सीमेण्ट का काम करेगा। कोई समझौता हमारे हृदयों को आपस में नहीं जोड़ सकता। पर गणेशशङ्कर विद्यार्थी ने जिस वीरता का परिचय दिया है, वह अन्त में पत्थर से पत्थर हृदय को भी पिघला देगी; और पिघला कर एक में मिला देगी। पर वह ज़हर इतना अधिक फैल गया है कि संभव है गणेशशङ्कर विद्यार्थी जैसे महान त्यागी और वीर पुरुष का रक्त भी आज उसे धो डालने के लिये काफ़ी न हो। अगर भविष्य में ऐसा मौका फिर आवे तो इस भव्य बलिदान से, हम वैसा ही प्रयत्न करने की प्रेरणा प्राप्त करें। मैं विद्यार्थी जी की विधवा पत्नी और बच्चों के साथ समवेदना नहीं प्रकट करता, बल्कि ऐसे पुरुष को पति तथा पिता रूप में प्राप्त करने के लिये उन्हें बधाई देता हूँ। वह मरे नहीं; आज वह तब से कहीं अधिक सच्चे रूप में जीवित हैं। जब तक हमने उन्हें भौतिक शरीर में जीवित देखा तब तक हमने उन्हें न पहचाना।"

विद्यार्थी जी की मृत्यु के बाद उनके स्मारक के सम्बंध में एक स्मारक समिति भी बनी है, जिसने जनता से एक लाख रूपये के लिये निम्नलिखित शब्दों में अपील की है:—

"गणेशशंकर विद्यार्थी हमारे देश के एक तेजोमय रत्न थे। कानपुर की लज्जा-जनक दुर्घटनाओं में उनके ऐसे लोक-प्रिय कर्म-वीर का उठ जाना शोकमय और दुखदाई तो है ही, किन्तु जिस वीरता से उनका अन्त हुआ, वह देश भर का सिर ऊँचा कर रही है। हिन्दू-मुसलिम एकता की स्थापना में यह देश का सब से बड़ा बलिदान हुआ है और देश के सामने एक नया आदर्श रख रहा है। गणेशशङ्कर जी की जीवनी और उनकी मृत्यु सदा देश की एक अमूल्य और प्यारी स्मृति रहेगी और लाखों हिन्दू और मुस-लमानों को ठीक मार्ग पर रखने के लिये अंधेरे में प्रकाश दिख-लाती रहेगी। गणेशशङ्कर जी का शरीर भस्म हो गया, किन्तु उनके कृतज्ञ देश-वासी उनकी कीर्ति को जीवित रखेंगे। गणेशशङ्कर जी की मृत्यु से कुछ विशेष ज़िम्मेदारी तुरन्त उनके देश-वासियों पर आ गई है। एक तो जो ज़िम्मेदारियाँ गणेशशङ्कर जो पर थीं, उनमें से कुछ विशेष का भार देश को अपने ऊपर लेना है। साथ ही अपनी स्नेहमय कृतज्ञता को ऐसा स्वरूप देना है, जो उनकी याद बनाये रखे और उनकी आत्मा को प्रिय हो। करांची कांग्रेस के अवसर पर संयुक्त प्रान्त के प्रतिनिधियों ने एक सभा कर हम लोगों में से कुछ व्यक्तियों की एक समिति बना कर गणेशशङ्कर जी के स्मारक के सम्बन्ध में आवश्यक काम करना उसके सुपुर्द किया

था। उस समिति ने हममें से शेष को उसमें पीछे और जोड़ लिया। हम लोगों ने अब यह निश्चय किया है कि देश से कम-से-कम एक लाख रुपये का दान माँगा जाय और वह दान निम्नलिखित कामों में लगाया जाय—

(१) 'प्रताप-ट्रस्ट' की सहायता। गणेशशङ्कर जी ने एक ट्रस्ट बना कर हिन्दी के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' का संचालन उसी के अधीन कर दिया था। श्री गणेशशङ्कर जी ने देश की मुख्य सेवा अपने जीवन में इसी 'प्रताप' पत्र द्वारा की थी। ट्रस्ट की सहायता इसीलिये की जायगी कि 'प्रताप' की नींव मजबूत हो जावे।

(२) उस स्थान के समीप जहाँ गणेशशंकर जी ने हिन्दू और मुसलमानों की रक्षा में अपने शरीर का त्याग किया, एक जल-स्रोत (फ़ौव्वारा) या स्तम्भ या इसी प्रकार का कोई दूसरा स्मारक खड़ा करना।

(३) कानपुर जिले के नरवल ग्राम में स्थापित आश्रम के कार्य की सहायता करना। गणेशशङ्कर जी ने अपने जीवन में इस आश्रम की स्थापना की थी। इस आश्रम द्वारा लगभग २०० ग्रामों का संगठन किया गया है। चर्खा कातना और खादी-प्रचार इस संगठन का एक मुख्य अंग है।

(४) बचे हुए धन को संयुक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी को इस शर्त पर भेंट करना कि इससे 'गणेशशङ्कर राष्ट्रीय सेवा-संघ' की स्थापना हो। यह सेवा-संघ वही काम करे, जो इस समय संयुक्त-

प्रान्तीय राष्ट्रीय सेवा-संघ कर रहा है, अर्थात् प्रान्त भर में राष्ट्रीय काम में पूरा समय देने वाले कार्यकर्त्ताओं के निर्वाह के लिए सहायता करना।

हम लोगों का अनुरोध है कि गणेशशङ्कर जी की सेवाओं और उनके महान बलिदान का स्मरण कर ऊपर दिये हुए शुभ कामों के लिये हमारा देश कम से कम एक लाख रुपया शीघ्र दे दे और इस प्रकार अपनी कृतज्ञता का कुछ प्रदर्शन करे। हम लोगों ने अपनी समिति का खजाञ्ची श्रीयुत श्रीप्रकाश जी को बनाया है। कुल रुपया श्रीयुत श्रीप्रकाश जी, सेवाश्रम, सिगरा, बनारस छावनी, के पते से आना चाहिये।

जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टंडन, सुन्दरलाल, कृष्णाकान्त मालवीय, तसद्दुकअहमद शेरवानी, दामोदरस्वरूप सेठ, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, रफ़ी अहमद किदवई, मोहनलाल सक्सेना, शिवप्रसाद गुप्त, गोविन्दवल्लभ पन्त, श्रीप्रकाश, (डा०) मुरारीलाल, कमलापति सिंघानिया।"

× × ×

विद्यार्थी जी के आत्मत्याग और बलिदान की, न केवल तमाम हिन्दुस्तान के ही, बल्कि बर्मा, सिंगापुर, दक्षिण-अफ्रिका, फीजी, मारिशस आदि के लोगों ने भी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। हिन्दुस्तान के सभी श्रेणी और सभी विचार के लोगों ने उनके स्वर्गारोहण से देश को जो बड़ी भारी क्षति हुई, इस पर अफसोस प्रकट किया। उनके आदर्श बलिदान ने सबों के हृदयों को गद्गद कर दिया। युक्त-प्रान्तीय कौंसिल में उनके स्वर्गवास पर शोक-सूचक प्रस्ताव

पास हुआ और कानपुर दंगे की जाँच के लिये जो सरकारी जाँच कमेटी बनी थी, उसने तथा युक्त-प्रान्त के गवर्नर सर मैलकम हेली ने विद्यार्थी जी के बलिदान की प्रशंसा तथा स्वर्गवास पर शोक प्रकट किया। देश और विदेशों से समवेदना की सैकड़ों चिट्ठियाँ और तार (उनके परिवार वालों के पास) आये, सैकड़ों सभाओं में शोक-प्रस्ताव पास हुए, देश के हिन्दी, उर्दू, बँगला, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं के पत्रों ने अग्रलेख और नोट लिखे। बीसों व्यक्तियों ने विद्यार्थी जी के अपने निजी संस्मरण में चार आँसू बहाये। जो जानते थे उन्होंने भी और जो न जानते थे उन्होंने भी, मित्रों ने भी तथा विरोधियों ने भी, कांग्रेस वालों ने भी तथा नरम दल वालों ने भी, राष्ट्रीय विचार वालों ने भी तथा सम्प्रदाय-वादियों ने भी विद्यार्थी जी के निधन पर बहुत दुःख प्रकट किया। यह उस व्यक्ति की महानता थी कि सभी उसे अपना समझते थे। एक अजीब बात थी। सबों ने यही समझा कि मेरा एक अपना आदमी—आत्मीय—मर गया, अपने बीच से सदा के लिये चला गया। देश में ऐसे और भी नेताओं का स्वर्गवास हुआ। उससे देश की बड़ी क्षति हुई। लोगों ने बहुत शोक भी मनाया; पर विद्यार्थी जी के जैसा बहुत कम देखने में आया। ऐसे नर-रत्नों का संसार में सदा अभाव रहता है जो अपने सत्कार्यों द्वारा लाखों और करोड़ों नर-नारियों को अपना बना लेते हैं, जो उनके निधन पर उन्हें भी अपना आदमी समझ चार आँसू बहाते हैं!

प्रतापी 'प्रताप'

" लोगों की लगन जानना और उसे प्रगट करना, अख़बार का पहला काम है। उसका दूसरा काम है, लोगों में ख़ास-ख़ास ज़रूरी लगनों को पैदा करना। और तीसरा काम, लोगों में जो दोष हों, उन्हें, चाहे जितनी मुसीबत उठानी पड़े तो भी बेधड़क हो कर बताना, है।"

— गान्धी जी

प्रताप की नीति

"आज अपने हृदय में नई-नई आशाओं को धारण करके और अपने उद्देश्यों पर पूर्ण विश्वास रख कर 'प्रताप' कर्म-क्षेत्र में आता है। समस्त मानव-जाति का कल्याण हमारा परमोद्देश्य है और इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक बहुत बड़ा और बहुत ज़रूरी साधन हम भारतवर्ष की उन्नति को समझते हैं। उन्नति से हमारा अभिप्राय देश की कृषि, व्यापार, विद्या, कला, वैभव, मान, बल, सदाचार और सच्चरित्रता की वृद्धि से है। भारत को इस उन्नता-वस्था तक पहुँचाने के लिये असंख्य उद्योगों, कार्यों और क्रियाओं की आवश्यकता है। इनमें से मुख्यतः राष्ट्रीय एकता; सुव्यव-स्थित, सार्वजनिक और सर्वांग-पूर्ण शिक्षा का प्रचार; प्रजा का हित और भला करने वाली सुप्रबन्ध और सुशासन की शुद्ध नीति का राज-कार्यों में प्रयोग; सामाजिक कुरीतियों का निवारण;

तथा आत्मावलम्बन और आत्म-शासन में दृढ़ निष्ठा, है। हम इन्हीं सिद्धान्तों और साधनों को अपनी लेखनी का लक्ष्य बनावेंगे। हम अपनी प्राचीन सभ्यता और जातीय गौरव की प्रशंसा करने में किसी से पीछे न रहेंगे, और अपने पूजनीय पुरुषाओं के साहित्य, दर्शन, विज्ञान और धर्म-भाव का यश सदैव गावेंगे। किन्तु अपनी जातीय निर्बलताओं और सामाजिक कुसंस्कारों तथा दोषों को प्रकट करने में हम कभी बनावटी जोश या मसलहत-वक्त से काम न लेंगे, क्योंकि हमारा विश्वास है कि मिथ्या अभिमान जातियों के सर्वनाश का कारण होता है। किसी की प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की घुड़की या धमकी, हमें अपने सुमार्ग से विचलित न कर सकेंगी। साम्प्रदायिक और व्यक्तिगत झगड़ों से 'प्रताप' सदा अलग रहने की कोशिश करेगा। उसका जन्म किसी विशेष सभा, संस्था, व्यक्ति या मत के पालन, पोषण, रक्षण या विरोध के लिये नहीं हुआ है; किन्तु उसका मत स्वातंत्र्य-विचार और उसका धर्म सत्य होगा।..... मनुष्य की उन्नति भी सत्य की जीत के साथ बँधी है। इसीलिये सत्य का दबाना हम महा पाप समझेंगे, और उसके प्रचार और प्रकाश को महा पुण्य। हम जानते हैं कि हमें इस काम में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, और इसके लिये बड़े भारी साहस और आत्म-बल की आवश्यकता है। हमें यह भी अच्छी तरह मालूम है कि हमारा जन्म निर्बलता, पराधीनता और अल्पज्ञता के वायुमण्डल में हुआ है। तो भी हमारे हृदय में सत्य की

सेवा करने के लिये आगे बढ़ने की इच्छा है, और हमें अपने उद्देश्य की सच्चाई तथा अच्छाई का अटल विश्वास है। इसी-लिये हमें अन्त में इस शुभ और कठिन कार्य में सफलता मिलने की आशा है।

"लेकिन जिस दिन हमारी आत्मा इतनी निर्बल हो जाय कि अपने प्यारे आदर्श से डिग जावें, जान-बूझ कर असत्य के पक्ष-पाती बनने की बेशरमी करें, और उदारता, स्वतंत्रता और निष्प-क्षता को छोड़ देने की भीरुता दिखावें, वह दिन हमारे जीवन का सबसे अभागा दिन होगा और हम चाहते हैं कि हमारी उस नैतिक-मृत्यु के साथ-ही-साथ हमारे जीवन का भी अन्त हो जाय।"

ये सतरें आज से अट्ठारह वर्ष पूर्व 'प्रताप' के प्रथम अंक में उसकी नीति बतलाते हुए लिखी गई थीं। इस घोषणा से ले कर आज तक जिन्होंने 'प्रताप' को नियमितरूप से देखा है, उसे पढ़ा है, और जो उसकी गति-विधि पर ध्यान देते आये हैं, वे बतला सकेंगे कि 'प्रताप' अपने उपरोक्त उच्चादर्श और श्रेष्ठतम भावना के पालन में कहाँ तक सफल हुआ है, अथवा अपने मार्ग से वह विचलित हो गया है। देश के आन-बान के मौके पर 'प्रताप' कितना काम आया, राष्ट्रीय-जागृति में उसका कितना हाथ रहा, और देश के दीन-हीन किसान-मजदूरों के उद्धार के लिये उसने क्या किया, देशी राज्यों की अत्याचार-पीड़ित प्रजा की कितनी सेवा की, हिन्दी के लेखकों तथा कवियों को कितना प्रोत्सा-हन दिया, इत्यादि विषय ऐसे हैं कि इन पर एक एक स्वतंत्र लेख

लिखा जा सकता है। यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उपरोक्त उच्च आदर्श और उच्च भावना के अनुसार चलने के कारण 'प्रताप' सदा सरकार तथा उसके पिट्ठुओं के प्रहार का पात्र रहा। अधिकारी 'प्रताप' पर प्रहार करने से कभी भी बाज नहीं आये। उसके जीवन का ऐसा कोई अभागा ही वर्ष होगा, जिसमें उसे चेतावनियाँ और धमकियाँ न दी गई हों तथा मानहानि के नोटिस न मिले हों। कभी उसे राजद्रोही पत्र करार दिया गया तो कभी उसके टुकड़े-टुकड़े किये गये। कभी उसको सरकारी दफ्तरों और सरकारी स्कूलों से लौटाया गया तो कभी उसके ग्राहक होने के कारण लोगों को भर्त्सना दी गई, फटकार बतलाई गई। कभी देशी रियासतों में उसका प्रवेश-निषेध किया गया तो कभी प्रिंसेस प्रोटेक्शन ऐक्ट (देशी-नरेश-रक्षा-कानून) के अनुसार उस पर मुकदमे चलाने की धमकियाँ धमकीं। कभी उसकी कापियाँ जप्त हुईं; तो कभी उसके लेख राजद्रोहात्मक करार दिये गये। उससे जमानत माँगी गई और जप्त की गई। फिर जमानत माँगी गई और रकम बढ़ा कर माँगी गई। जिस समय लगभग सब पत्रों की जमानत वापिस कर दी गई उस समय भी उसकी जमानत वापिस न की गई। यहीं तक नहीं बल्कि देश में नवयुग आ जाने तथा प्रेस-ऐक्ट के मरणासन्न होने पर भी उससे जमानत माँग कर अधिकारियों ने अपने जी की जलन बुझाई। 'प्रताप' को कुचल डालने और उसके सर्वनाश के लिये कुछ भी शेष नहीं छोड़ा गया। परन्तु 'प्रताप' को प्रतापी प्रभाकर की नाईं समस्त

लिये २||) रखा गया। छपाने का प्रबन्ध कारोनेशन प्रेस में हुआ। कारोनेशन प्रेस वाले जानते थे कि इन लोगों के पास रुपया नहीं है और अखबार चला न चला, क्या ठिकाना है। इसलिये हमारी छपाई के भी रुपये मिलेंगे वा नहीं, इसमें सन्देह है! यह सोच-विचार कर उन्होंने छापने में कुछ गड़बड़ी की। 'प्रताप' को जन्म से ही कठिनाइयों का सामना करने के लिये डटना पड़ा। बड़ी विकट समस्या थी। पास में पैसे नहीं, अपना प्रेस नहीं, दूसरे प्रेस वाले छापने को तैयार नहीं, और अखबार निकलना ही चाहिये। पर विद्यार्थी जी इससे ज़रा भी विचलित न हुए। उन्होंने कुछ मित्रों से मदद ली और कुछ कर्ज ले कर छपाई के रुपये अदा किये, तथा एक प्रेस खरीद लिया। इस प्रकार 'प्रताप' सिर्फ़ १६ अंक तक कारोनेशन प्रेस में छपने के बाद अपने निजी प्रेस ('प्रताप' प्रेस) में छपने लगा। सम्पादक तो शुरू से ही श्री गणेशशङ्कर जी विद्यार्थी थे ही, अब मुद्रक और प्रकाशक भी वे ही हो गये। इस समय इन लोगों को कानपुर के प्रसिद्ध विद्वान महाशय काशीनाथ जी से काफ़ी मदद मिली। वे सदा अपने अमूल्य विचारों और सलाहों से विद्यार्थी जी और पं० शिवनारायण जी की सहायता करते रहे। श्री नारायण प्रसाद जी अरोड़ा भी शुरू में इन लोगों के साथ थे; पर बाद को अलग हो गये। आर्थिक मदद देने वालों में सेठ राम-गोपाल जी और ला० कमलापति जी के नाम उल्लेखनीय हैं। शुरू में 'प्रताप' की आर्थिक दशा इतनो खराब थी कि सम्पादक और मैनेजर से ले कर चपरासी और दफ्तरी तक का काम विद्यार्थी जी

और मिश्र जी को स्वयं करना पड़ता था। कुर्सी और मेज़ों के बजाय चटाइयों पर बैठ कर लेख लिखे जाते थे, और लिखे जाते थे बड़े धैर्य और लगन के साथ। आज उसी धैर्य और लगन का फल है कि 'प्रताप' का प्रताप एवं प्रकाश चारों ओर फैल कर लोगों को प्रकाशमय बना रहा है।

धीरे-धीरे 'प्रताप' अपना पराक्रम दिखलाने और लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने लगा। विद्यार्थी जी की कलम की करामात अपना असर फैलाने लगी, पत्रकार-कला में एक नवीन धारा प्रवाहित होती दिखाई पड़ने लगी। 'प्रताप' के विचार-पूर्ण और गम्भीर सम्पादकीय लेख, उसकी चुभती हुई टिप्पणियाँ, उसकी हृदय-ग्राही कविताएँ, उसका सुरुचि-पूर्ण समाचार-संग्रह, एवं अत्याचार तथा अन्यायों पर खुला वार करने वाली उसकी नीति, आदि के कारण वह लोगों के हृदयों की श्रद्धा और सम्मान का पात्र बन गया।

मार्च १९१९ में 'प्रताप' का ट्रस्ट कायम किया गया, और उसके निश्चयानुसार ७ अप्रैल १९१९ ई० से विद्यार्थी जी की जगह पं० शिवनारायण जी 'प्रताप' के मुद्रक तथा प्रकाशक हुए; पर सम्पादक विद्यार्थी जी ही रहे। १९२१ ई० में विद्यार्थी जी और मिश्र जी पर रायबरेली-मान-हानि का भयंकर केस चला। दफा १०८ के अनुसार दोनों से पन्द्रह-पन्द्रह हज़ार की जमानतें माँगी गईं। इधर मिश्र जी का स्वास्थ्य भी खराब था—मुक़द्दमे में भी वे लोग दिन-रात फँसे रहे; इसलिये इन लोगों की जगह साहित्यरत्न पं० श्रीकृष्णदत्त जी

पालीवाल एम० ए० ३ मई १९२१ ई० से 'प्रताप' के मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक हुए और १० सितम्बर १९२३ ई० तक रहे। पालीवाल जी के जाने के बाद दो अंकों के सम्पादक पं० बालकृष्ण शर्मा और फिर अक्टूबर १९२३ ई० से ३ मार्च १९२४ ई० तक पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी 'प्रताप' के सम्पादक रहे। उस समय विद्यार्थी जी जेल में थे। पालीवाल जी के बाद मुद्रक और प्रकाशक श्री सुरेन्द्र शर्मा हुए और ३१ जुलाई १९२७ ई० तक यही रहे। विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' का सम्पादन-कार्य १० मार्च १९२४ ई० से तथा मुद्रण और प्रकाशन कार्य ७ अगस्त १९२७ ई० से अपने हाथ में ले लिया और तब से ले कर ४ मई १९३० ई० तक जब कि प्रेस आर्डिनेंस के अनुसार 'प्रताप' बन्द कर दिया गया, वे ही उसके मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक रहे। प्रेस आर्डिनेंस के खतम होने के समय विद्यार्थी जी जेल में थे, इसलिए ९ नवम्बर १९३० ई० को 'प्रताप' जब फिर निकला तो उसके मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक श्री प्रकाशनारायण शिरोमणि बी० ए० हुए। परन्तु थोड़े ही दिनों बाद शिरोमणि जी को भी जेल की हवा खानी पड़ी, इसलिये १ फरवरी १९३१ ई० से श्री श्रीनिवास बालाजी हार्डीकर बी० ए० सम्पादक हुए और १५ मार्च १९३१ ई० तक रहे; पर मुद्रक और प्रकाशक शिरोमणि जी ही बने रहे। इसी बीच 'प्रताप' के सर्वस्व श्रद्धेय विद्यार्थी जी जेल से मुक्त हो कर आये और उन्होंने 'प्रताप' का सम्पादन-कार्य अपने हाथों में लिया। उनके सम्पादकत्व में इधर सिर्फ एक ही अंक (२२ मार्च १९३१ ई० का) निकल पाया था कि

'प्रताप' पर वज्रपात हुआ और उसके सर्वस्व विद्यार्थी जी शहीद हो कर स्वर्गवासी हुए। उसके बाद ५ अप्रैल १९३१ ई० से अब तक पं० बालकृष्ण जी शर्मा उसके मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक हैं।

कठिनाइयाँ, विकास, उन्नति और ट्रस्ट-निर्माण

'प्रताप' के जन्म का उल्लेख करते समय कहा गया है कि उस समय उसमें १६ ही पृष्ठ होते थे; परन्तु बाद को प्रथम वर्ष के ही दर्मियान उसकी पृष्ठ-संख्या बढ़ा कर २० कर दी गई। कागज़ की मँहगी के कारण दूसरे वर्ष में फिर १६ पृष्ठ कर दिया गया, पर बाद को फिर २० पृष्ठ का निकलने लगा तथा १८ मई १९२५ ई० तक २० पृष्ठों का 'प्रताप' निकलता रहा। इसके बाद २५ मई १९२५ ई० से २४ पृष्ठ हुए और सन् १९२७ ई० में २८, और फिर दूसरे-तीसरे वर्ष क्रमशः ३२ तथा ३६ पृष्ठ। १९३० ई० में जब कि प्रेस-आर्डिनेंस के कारण 'प्रताप' बन्द हुआ, वह ४० पृष्ठों का निकलता था तथा विद्यार्थी जी का विचार उसमें कुछ और पृष्ठ बढ़ाने का था; परन्तु चूँकि ४० पृष्ठों से अधिक करने से वज़न बढ़ जाने के कारण डाक-खर्च एक के बजाय दो पैसा पड़ जाता था, इसलिये यह विचार स्थगित कर दिया गया। प्रेस आर्डिनेंस के कारण छः मास तक 'प्रताप' बन्द रहा, इसलिये विज्ञापन कुछ कम हो गया और यही कारण है कि इन दिनों 'प्रताप' ३२ पृष्ठों का ही निकल रहा है, हालां कि पाठ्य सामग्री उतनी ही दी जाती है, जितनी कि ४० पृष्ठों के समय दी जाती

थी। शीघ्र ही इसके ३६, तथा फिर ४० पृष्ठ करने का भी आयोजन हो रहा है।

'प्रताप' के दूसरे वर्ष में २४ अप्रैल १९१५ ई० को 'प्रताप' प्रेस, श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी जी के मकान, पं० शिवनारायण मिश्र जी के मकान, तथा कुछ दिनों बाद जहाँ 'प्रताप' का कार्यालय जाने वाला था उसकी, तलाशी पुलिस द्वारा आपत्ति-जनक साहित्य के सम्बन्ध में ली गई। तलाशी जिस धाँधली के साथ ली गई, उसका क्या कहना! रात को ही पुलिस वालों ने आ कर चारों तरफ से 'प्रताप' प्रेस और कार्यालय को घेर लिया और प्रातःकाल अन्धेरे में ही प्रेस में बिना किसी जिम्मेदार आदमी के होते हुए, दरवाज़ा तोड़ कर वह भीतर घुस गई। डेक्सों और आलमारियों के ताले तोड़े गये और कागज़ का एक-एक टुकड़ा देखा गया। कहीं भी कोई आपत्ति-जनक चीज़ न मिली; परन्तु प्रेस से वे ग्राहकों के पतों के रजिस्टर, सादे कार्ड, लिफ़ाफे तथा 'जर्मन जासूस की राम कहानी' और 'युद्ध की कहानियाँ' नामक पुस्तकों की प्रतियाँ उठा ले गये। वह ज़माना सन् , १३ का था। आज की अपेक्षा लोगों के विचार उस समय बहुत पीछे थे। लोगों पर तलाशी का बुरा असर पड़ा। वे डर गये, कितने ग्राहक टूट गये, एजेंसियाँ टूटीं तथा तुड़वाई गईं। इससे 'प्रताप' को आर्थिक क्षति पहुँची। महायुद्ध का समय था, बड़ी महँगी हो रही थी, और इस कारण कई अखबार बन्द हो गये थे। इन्हीं दिनों एक अखबार ने लिख मारा कि 'यही दशा 'प्रताप' की भी है।' दूसरे पत्रों ने समझा कि 'प्रताप' भी बन्द हो

गया और इस सम्बन्ध में उन्होंने टिप्पणी तक लिख डाली। इसका भी ग्राहकों पर बड़ा बुरा असर पड़ा, तथा बहुत से ग्राहक टूटने और रुपया वापस माँगने लगे। दो महीने बाद जा कर लोगों को सन्तोष हुआ कि 'प्रताप' दरअसल बन्द नहीं हुआ है। पहले वर्ष के समान ही दूसरे वर्ष भी 'प्रताप' घाटे पर चलता रहा।

अधिकारियों की क्रूर-दृष्टि शुरू से ही 'प्रताप' पर थी। फल-स्वरूप तीसरे वर्ष, ता० ३० अक्टूबर १९१६ ई० को प्रेस ऐक्ट के अनुसार 'प्रताप' प्रेस से १०००) की जमानत माँगी गई। जमानत 'प्रताप' पत्र से न माँग कर 'प्रताप' प्रेस से माँगी गई, ताकि एक ईंट से दो चिड़िया मरें—'प्रताप' भी बन्द हो जाय तथा प्रेस से दूसरा भी कोई काम न हो। कहा गया था कि चूँकि प्रेस से आपत्ति-जनक साहित्य मिला है तथा वहाँ से प्रकाशित 'कुली प्रथा' नामक पुस्तक को सरकार ने जप्त कर लिया है, इसी कारण जमानत माँगी गई है। पर यह तो वास्तव में बहाना मात्र था। सरकार तो 'प्रताप' को बन्द करना चाहती थी, और इसीलिये उसकी ओट में यह प्रहार किया गया था। इसके उत्तर में विद्यार्थी जी ने हवाला दिया कि श्रीमती एनी बीसेण्ट के पत्र 'न्यू इण्डिया' से भी २०००) की जमानत माँगी गई थी और मुकदमा लड़ने पर मद्रास हाई कोर्ट ने उसका यह फैसला दिया है कि प्रेस खुलते समय अगर सरकार उससे जमानत न माँगे, तो फिर उसे जमानत माँगने का अधिकार नहीं रह जाता। उस फैसले की नकल भी अदालत के सामने पेश की गई। अदालत ने उसे पढ़ा, पर अपनी

आज्ञा में कोई रद्दोबदल नहीं किया। श्रीमती बीसेण्ट हाई कोर्ट के फैसले के अनुसार अपना २०००) वापिस लेने के लिये उन दिनों दीवानी दायर किये हुए थीं। विद्यार्थी जी ने जब देखा कि सिवा जमानत जमा करने के दूसरा कोई चारा नहीं है तो सरकार के उस हुक्म का विरोध करते हुए और कहते हुए कि अगर श्रीमती बीसेण्ट को रुपया मिल गया तो हम भी लड़ कर अपनी जमानत के रुपये वापिस लेंगे, १०००) की जमानत दाखिल कर दी।

चम्पारन (बिहार) में उन दिनों अंग्रेजों के बड़े अत्याचार हो रहे थे। 'प्रताप' ने उन अत्याचारों का कच्चा चिट्ठा खोलना शुरू किया। खूब पोल खोली गई, नीलहों की धांधलियों के खिलाफ खूब जोरदार आन्दोलन किया गया। सरकार भला अपने आदमियों की ऐसी ख्वारी होते कब देख सकती थी। 'प्रताप' के चम्पारन सम्बन्धी लेखों को आपत्ति-जनक समझा गया तथा ९ अगस्त १९१७ को इसके लिये सरकार द्वारा चेतावनी दी गई; परन्तु सरकार को इतने से सन्तोष न हुआ और २२ अप्रैल १९१८ के 'प्रताप' में प्रकाशित श्री नानकसिंह 'हमदम' की 'सौदाये वतन' नामक कविता को राजद्रोहात्मक—सरकार के प्रति घृणा, उपेक्षा और द्रोह-भाव फैलाने वाला—करार दे कर प्रान्तीय सरकार ने १९१६ ई० में 'प्रताप' प्रेस से ली गई १०००) की जमानत ज़ब्त कर ली। 'प्रताप' के लिये यह कोई मामूली बात न थी, उस पर यह एक बहुत बड़ा वार था। पर सरकार तो एक बहाना ढूंढ़ रही थी उसे कुचलने के लिये! वह

बहाना उसे 'सौदाये वतन' में मिल गया। पर 'प्रताप' के कर्णधार इससे घबड़ाने वाले न थे। उन्होंने धैर्य धारण किया। पर जब तक फिर जमानत न दे दी जाय, 'प्रताप' कैसे निकले ? इसलिये १० जून १९१८ ई० का अंक निकाल कर रुपये का प्रबन्ध होने तक 'प्रताप' का प्रकाशन बन्द रहा। जनता तथा पत्रों ने सरकार की इस नीति का एक स्वर से घोर विरोध तथा 'प्रताप' के प्रति पूरी सहानुभूति प्रदर्शित की। १०००) की जमानत फिर दाखिल की गई और एक मास के बाद ८ जुलाई १९१८ ई० को 'प्रताप' फिर निकल पड़ा। 'प्रताप' पर ऐसी आपत्ति देख उसकी रक्षा करने तथा उसकी जड़ मजबूत बना देने के विचार से उसके संचालकों ने एक 'प्रताप-सहायक-फंड' खोला। 'प्रताप' की स्पष्टवादिता, उसकी सराहनीय नीति, उसकी निर्भीकता, उसकी सेवा-भावना आदि का अब तक लोगों पर काफी असर पड़ चुका था और हज़ारों आदमी उसके प्रेमी, भक्त, श्रद्धालु और हित-चिन्तक हो गये थे। फल-स्वरूप कुछ ही दिनों के अन्दर 'प्रताप-सहायक-फंड' में आठ हज़ार से अधिक रुपये जमा हो गये। इन्हीं दिनों श्रद्धेय विद्यार्थी जी तथा पं० शिवनारायण जी ने तय किया कि जिस संस्था के लिये और जिस कार्य के लिये हम जनता से मदद ले रहे हैं, वह चीज़ हम लोगों की निजी सम्पत्ति के रूप में नहीं रहनी चाहिये, और उसे जनता की ही चीज़ बना कर उसके सुपुर्द कर देना चाहिये। इस निर्णय के अनुसार 'प्रताप' को एक ट्रस्ट के सुपुर्द कर देना निश्चित हुआ। इस निश्चय के अनुसार ट्रस्ट-निर्माण हो गया और १५ मार्च १९-

१९ ई० को 'प्रताप'-ट्रस्ट की बाकायदे रजिस्ट्री भी हो गई। ट्रस्टियों के नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) श्री मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव।

(२) डाक्टर जवाहरलाल रोहतगी, कानपुर।

(३) श्रीयुत फूलचन्द जी, कानपुर।

(४) श्रीयुत शिवनारायण मिश्र वैद्य, कानपुर।

(५) श्रीयुत गणेशशङ्कर विद्यार्थी, कानपुर।

शुरू के इन पाँच ट्रस्टियों में ला० फूलचन्द जी ने बहुत पहले इस्तीफा दे दिया था और विद्यार्थी जी का हाल ही में स्वर्गवास हो गया। इन लोगों की जगह पर अब श्री पुरुषोत्तमदास टंडन तथा विद्यार्थी जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री हरिशंकर विद्यार्थी नये ट्रस्टी नियुक्त हुए हैं। श्री हरिशंकर विद्यार्थी ही आजकल अपने पूज्य पिता की जगह 'प्रताप' के मैनेजिंग ट्रस्टी हैं और 'प्रताप' का संचालन कर रहे हैं।

ट्रस्ट-निर्माण के बाद ट्रस्ट ने मिश्र जी को 'प्रताप' प्रेस का कीपर, प्रिण्टर और पब्लिशर बनाया, और उसके अनुसार मिश्र जी ने अपने नाम नया डिक्लेरेशन मजिस्ट्रेट के यहाँ दिया। उस पर मजिस्ट्रेट मि० स्टाइफ ने निम्नलिखित आशय का हुक्म सुनाया :—

"मैं 'प्रताप' से जमानत न लेने का कोई कारण नहीं देखता। नये प्रिण्टर (अर्थात् श्रीयुत शिवनारायण मिश्र) का इस बदनाम (notorious) पत्र से पुराना सम्बन्ध है। २० मास के भीतर पत्र को दो बार चेतावनी दी गई और एक बार उसकी १०००) की

जमानत ज़ब्त की गई। पहले के प्रिण्टर (अर्थात् श्रीयुत गणेश-शङ्कर विद्यार्थी) ने, जो कमेटी (ट्रस्ट) में हैं, हाल में (कानपुर में) होने वाली हड़तालों में विशेष भाग लिया है और आजकल के से उपद्रव के समय में यह स्पष्ट रूप से आवश्यक है कि समाचार पत्रों पर कड़ा हाथ रखा जाय। इसलिये मैं २०००) रु० की जमानत माँगता हूँ और प्रकाशक को चेतावनी देता हूँ कि उसे पत्र प्रकाशित करने की आज़ादी उस समय तक नहीं है जब तक कि वह मेरी अदालत में जमानत दाखिल न कर दे।"

यानी पिछली दफे जमानत-ज़ब्ती के बाद १०००) की जो जमानत दी गई थी, वह बढ़ा कर जनाब मजिस्ट्रेट साहब ने २०००) की कर दी। इसके साथ ही गालियाँ सुनाईं सो अगल। 'प्रताप' ने इस प्रहार को भी सहा और जमानत जमा कर दी गई। इस साल भी 'प्रताप' को दो बार चेतावनियाँ दी गईं। 'प्रताप' के सातवें वर्ष में कोई ऐसी उल्लेखनीय घटना न घटी। सिर्फ कागज़ का दाम बढ़ जाने के कारण उसका दाम, १४ जून १९२० ई० से, ३) के बजाय ३।।) कर दिया गया, जो आज तक चला आ रहा है।

'प्रताप' का आठवाँ साल बहुत ही कण्टकाकीर्ण, बहुत ही भयंकर था। उसके उस समय के जीवन को देखते हुए, वह वर्ष उसके जीवन का सब से अधिक महत्वपूर्ण, सब से अधिक संकटमय और सब से अधिक घटनापूर्ण वर्ष था। उसका दैनिक संस्करण बड़े ठाठ से निकला, उस पर रायबरेली-मानहानि का सुप्रसिद्ध मुकदमा चला, उसके संचालकों से तीस हज़ार

की जमानतें तथा मुचलके माँगे गये और उसके सर्वस्व श्रद्धेय विद्यार्थी जी को जेल की कठिन यातना सहनी पड़ी। ये सब महत्वपूर्ण बातें तथा विपत्तियाँ हैं, जो एक साल भर के अन्दर 'प्रताप' को देखनी तथा सहनी पड़ीं; परन्तु 'प्रताप' के कुशल संचालक सभी कठिनाइयों का सामना कर, आगे बढ़ते तथा 'प्रताप' को बढ़ाते गये। और तारीफ की बात तो यह है कि इन सब आपत्तियों के होते हुए भी 'प्रताप' की नीति और शान में कोई फ़र्क नहीं पड़ने पाया; साथ ही 'प्रताप' की ग्राहक संख्या भी बढ़ कर १४ हज़ार तक पहुँच गई। इसके बाद नवें साल से ले कर १२ वें साल तक 'प्रताप' के जीवन में सिवा दो-एक के और कोई खास और अधिक घटनायें न घटीं। १९२३ ई० में ('प्रताप' का दसवाँ वर्ष) 'प्रताप' के प्राण विद्यार्थी जी दुबारा जेल भेज दिये गये। यह ठीक है कि उस समय विद्यार्थी जी 'प्रताप' के सम्पादक नहीं थे; परन्तु वैसे दरअसल वे उसके प्राण थे और सदा उसकी देख-भाल करते रहते थे। उनके जेल चले जाने से 'प्रताप' की बड़ी क्षति हुई। उनको इस बार एक व्याख्यान के संबंध में जेल जाना पड़ा था। व्याख्यान फतेहपुर जिला राजनैतिक सम्मेलन के सभापति पद से उन्होंने दिया था।

मैनपुरी-मानहानि-केस

'प्रताप' के अब तक के मुकदमों में रायबरेली के बाद मैनपुरी-मानिहानि-केस का नम्बर आता है। इस मुकदमे का जिक्र हाई

कोर्ट से ले कर प्रान्त के गवर्नर तक पहुँचा तथा गवर्नर साहब तक को इस सम्बन्ध में नज़रे-इनायत करनी पड़ी। यह बात प्रसिद्ध थी कि शिकोहाबाद (मैनपुरी) का थानेदार शिवदयाल सिंह लोगों से खूब रिश्वतें लेता है और उन्हें खूब सताया करता है। 'प्रताप' ने इसका भण्डाफोड़ करना शुरू किया। अपनी तरफ से खूब जाँच करवाई तथा उसकी विस्तृत रिपोर्ट 'प्रताप' में छपती रही। थानेदार साहब को उसमें आड़े हाथों लिया गया। थानेदार साहब, नौकरशाही की मेशीन के एक खासे अच्छे पुर्जे ठहरे। भला अपने को अत्याचारी और रिश्वतखोर के नाम से कैसे बदनाम कराते। नौकरशाहों की शह मिली और आपने अपने खिलाफ छपी हुई चिट्ठियों को झूठ बतलाते हुए दफ़ा ५०० के अनुसार 'प्रताप' के मुद्रक और प्रकाशक श्री सुरेन्द्र शर्मा पर तथा सम्पादक श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी पर मुकदमा दायर कर दिया। (इसी अभियोग में 'सैनिक' पर भी मुकदमा चला था, पर बाद को उस पर से वह उठा लिया गया और सिर्फ 'प्रताप' पर ही मुकदमा चला।) मुकदमा १२ अगस्त १९२६ ई० से मैनपुरी के फर्स्ट-क्लास मजिस्ट्रेट श्री ज्वालाप्रसाद की अदालत में शुरू हुआ। 'प्रताप' की ओर से थानेदार के कारनामों के सम्बन्ध में ११४ गवाहों को पेश करने की सूचना दी गई थी। पर उनमें से ४१ गवाहों के ही बयान लिये गये। शिवदयाल सिंह के रिश्वतखोर होने के १३ मामले अदालत में पेश किये गये, पर श्री ज्वालाप्रसाद साहब की नज़रों में उनकी कोई वक़त न मालूम हुई और आपको

'प्रताप'-सम्पादक तथा उसके मुद्रक और प्रकाशक ही दोषी दीखे! १७ नवम्बर १९२६ ई० को आपने अपना फैसला सुना दिया तथा दोनों ही अभियुक्तों को चार-चार सौ रुपया जुर्माना या छः-छः महीने की सादी कैद की सजा दी। फैसले में ४००) दारोगा शिवदयाल सिंह को दिये जाने की बात भी कही गई थी; अर्थात् जुर्माने की रकम में से ४००) सरकार-आलिया के खजाने में जायं तथा शेष ४००) उसके खैरख्वाह और बड़े भारी नमक-हलाल शिवदयाल सिंह की जेब में पड़ें। उस अवसर पर 'प्रताप'-सम्पादक श्रद्धेय गणेशशङ्कर जी विद्यार्थी ने मजिस्ट्रेट से कहा था—"हमारे साथ घोर अन्याय हुआ है। इस मामले में हम जुर्माना न दे कर जेल जाने को तैयार हैं; इसलिये कि दुनियाँ आपके इंसाफ का नमूना देख ले।" मजिस्ट्रेट साहब मुँह लटकाये चुपचाप बैठे रहे और अन्त में जवाब दिया—'जैसी आपकी इच्छा।' इसके बाद विद्यार्थी जी तथा श्री सुरेन्द्र शर्मा मैनपुरी जेल में पहुँचाये गये। पर मैनपुरी तथा आगरे के मित्रों ने जमानत की रकम जमा कर, इन लोगों को जेल से निकाल लिया तथा मुकदमे की अपील करने का निश्चय किया। इसके अनुसार जुर्माने की रक़म अदा कर दी गई तथा ये लोग २४ घंटे बाद (ता० १८ नवम्बर को) जेल से रिहा कर दिये गये।

शीघ्र ही इसकी अपील वहाँ के सेशन जज के यहाँ की गई। सेशन जज श्री पी० के० राय ने फरवरी १९२७ में अपना फैसला सुनाया और अभियुक्तों को अपराधी करार देते हुए न केवल नीचे

की अदालत द्वारा दी गई सजा बहाल ही रखी, बल्कि हाई कोर्ट से अनुरोध भी किया कि इनकी सजाएँ और बढ़ा दी जायँ !

मुकदमे की मिसिल सेशन जज महोदय की दया से हाई कोर्ट पहुँची और वहाँ उसकी छानबीन की गई, उस पर विचार हुआ। हाई कोर्ट में मामला जस्टिस वाल्श तथा जस्टिस बनर्जी की बेंच में रखा गया था। देख-भाल, जाँच-पड़ताल और बयान-जिरह के बाद २८ मार्च १९२७ को इन लोगों ने अभियुक्तों को बिलकुल निर्दोष बतलाते हुए फैसला सुना दिया। जजों ने अपने फैसले में साफ़ साफ़ शब्दों में कहा कि असहयोगी या कांग्रेसी होने से कोई आदमी विश्वास और सत्य की सीमा से बाहर नहीं निकाल दिया जा सकता। अभियुक्तों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि 'प्रताप'-सम्पादक ने थानेदार सम्बन्धी बातें अच्छी तरह से जाँच-पड़ताल करने के बाद नेकनीयती से छापीं। सार्वजनिक-हित की दृष्टि से ऐसा करने के लिये वे दोषी नहीं ठहराये जा सकते। थानेदार के सम्बन्ध में जज महाशयों ने कहा कि उसके खिलाफ रिश्वतखोर होने के जो १३ मामले पेश किये गये हैं, उनमें चार मामलों के सम्बन्ध में उस पर मुकदमा चलाया जाय; और यह मुकदमा ऐसे सेशन जज के यहाँ—मजिस्ट्रेट के यहाँ नहीं—हो, जिसका इस मुकदमे से कोई सम्पर्क न हो। इस सम्बन्ध में जाप्ता फौजदारी के अनुसार हाई कोर्ट द्वारा नियमित हुक्म भी निकाला जायगा। जजों ने यह भी कहा कि इस दारोगा पर रिश्वत लेने के आरोप पहले से ही थे। उसकी जाँच उस समय पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट

कर रहे थे, जब 'प्रताप' का मुकदमा शुरू हुआ; किन्तु मामला आरंभ होते ही जाँच रुक गई। अभियुक्तों के कहने पर भी पुलिस ने आंशिक जाँच की रिपोर्ट, अदालत में पेश नहीं की। हाई कोर्ट ने यह भी स्पष्ट आज्ञा दी थी कि अब जब कभी ज़रूरत पड़े तब वह जाँच ज़रूर पेश की जाय। जजों ने नीचे की अदालतों को भी आड़े हाथों लिया था। हाई कोर्ट के फैसले के बाद जुर्माना वाले ८००) तो अभियुक्तों को वापिस कर दिये गये, परन्तु हाई कोर्ट के आदेश के अनुसार शिवदयाल सिंह पर कोई भी मामला न चलाया गया, पुलिस के हिमायतियों की कृपा से हाई कोर्ट तक को झुक कर अपना आदेश मंसूख करना पड़ा।

इस प्रश्न को ले कर उस वर्ष युक्त-प्रान्तीय कौंसिल में सरकारी तथा स्वराजी मेम्बरों में बड़ी झक-झक रही। २४ जून १९२७ के कौंसिल-अधिवेशन में विद्यार्थी जी तथा पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने इस सम्बन्ध में प्रश्नों की झड़ी लगा दी। बेचारे होम-मेम्बर साहब की हुलिया तंग हो गई। वे परेशान हो गये। उसी दिन के प्रश्नोत्तर से यह भी ज्ञात हुआ कि हाई कोर्ट के फैसले के बाद मैनपुरी के जिला मजिस्ट्रेट तथा हाई कोर्ट में कुछ पत्र-व्यवहार हुआ, जिसके फल-स्वरूप हाई कोर्ट ने मुकदमा चलाने की हिदायत वापिस ले ली तथा इस मामले की ओर सिर्फ ध्यान आकर्षित करा दिया। प्रश्नोत्तर में यह भी बतलाया गया कि हाई कोर्ट की दूसरी हिदायत के अनुसार जिला मज़िस्ट्रेट ने इस सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल की और उसके बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे कि दारोगा पर मुकदमा

चलाने की कोई जरूरत नहीं। कौंसिल में मजिस्ट्रेट साहब की जाँच की रिपोर्ट पेश करने को कहा गया, परन्तु होम-मेम्बर ने ऐसा करने से बिलकुल इन्कार कर दिया। कानून के ठेकेदारों ने ऐसा क्यों किया, सो वही समझ सकते होंगे। हाई कोर्ट के आदेशानुसार जब पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट की शुरू वाली आंशिक रिपोर्ट भी चाहे जिस समय और चाहे जहाँ पेश हो सकती हो, तो मजिस्ट्रेट की जाँच की रिपोर्ट पेश करने में क्यों एतराज होना चाहिये? किन्तु इसमें शंका की कोई बात नहीं, क्योंकि जब हाई कोर्ट की एक आज्ञा की अवहेलना की जा सकती थी तो होम-मेम्बर और मैनपुरी के कलक्टर उसकी दूसरी आज्ञा का उल्लंघन भी कर सकते थे। मैनपुरी के जिला मजिस्ट्रेट मि० जैनउद्दीन साहब ने शिवदयाल सिंह के सम्बन्ध में तहकीकात की, इस सम्बन्ध में लोगों को बहुत संदेह रहा और उनके हृदय में यह धारणा बैठ गई कि वह जाँच ऐसी ही हुई जिसे होम-मेम्बर और मि० जैनउद्दीन किसी को दिखा नहीं सकते।

एक तमाशा और रहा। पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने इस प्रश्न को सार्वजनिकहित की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण बतलाते हुए सरकार की इस धाँधली की पोल खोलने की गरज से २४ जून १९२७ को कौंसिल की कार्यवाही स्थगित करने का प्रस्ताव पेश करने की सूचना दी। प्रेसिडेण्ट साहब राजी हो गये और बहस के लिए चार बजे का समय भी तय हो चुका। पर उसके पहले ही युक्त-प्रान्त के गवर्नर महोदय का यह फरमान प्रेसिडेण्ट साहब के पास

आ गया कि इस प्रश्न पर बहस की इजाजत नहीं है। इस प्रकार एक रिश्वतखोर मामूली कर्मचारी के लिए गवर्नर महोदय तक को अपने विशेष अधिकारों के प्रयोग करने का कष्ट उठाना पड़ा। इतना ही नहीं, बल्कि दारोगा को शुरू से ले कर अन्त तक सरकारी आदमियों की पूरी-पूरी मदद मिलती रही। विद्यार्थी जी ने मुकद्मा शुरू होते ही होम-मेम्बर और पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल को रजिस्टर्ड पत्रों और तारों द्वारा लिखा था कि यदि आप यह चाहते हों कि इस मामले में न्याय हो तो दारोगा को उस स्थान से हटा कर दूसरे स्थान में तबदील कर दीजिए। परन्तु पत्रों का जवाब देना तो दूर रहा, इन बड़े-बड़े पदाधिकारियों ने उनके पत्रों की पहुँच तक लिख भेजने की तकलीफ़ गवारा नहीं की। इस मामले में शुरू से अन्त तक, नीचे से ऊपर तक, पुलिस तथा शासकों का जैसा कुछ रवैया रहा, उपरोक्त बातों को पढ़ कर पाठक उसका कुछ अन्दाजा लगा सकते हैं! आठ महीने तक मुकद्मा चलता रहा; करीब तीन हजार रुपये 'प्रताप' के ख़र्च हुए; मानसिक चिन्ता और परेशानी इसके अलावा रही। इतना कुछ होने के बाद जा कर कहीं यह माना गया कि 'प्रताप' ने जो कुछ छापा, नेकनीयती से छापा, जाँच करके छापा, और ठीक ठीक छापा!

साईंखेड़ा-मानहानि-केस

मैनपुरी-मानहानि-केस को खतम होते देर नहीं लगी थी कि साईंखेड़ा-मानहानि-केस शुरू हो गया। 'प्रताप' के १५वें वर्ष (१९२८ ई०) की यह बात है। साईंखेड़ा (जि० नरसिंहपुर सी०

पी०) के श्री दादाजी धूनीवाले के सम्बन्ध में उनके शिष्य दण्डी-स्वामी गुरु केशवानन्द ने एक लेख भेजा। लेख में धूनीवाले दादा के प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करते हुए भी ऐसी बातें लिखी थीं, जिससे दादाजी में ढोंग और पोप-लीला का बहुत आभास नज़र आता था। इस लेख को सम्पादकीय भाषा में करके ज़रा दूसरे रूप में छापा गया ताकि जनता धूनीवाले दादा की पोप-लीलाओं, ढोंगों और व्यभिचारों से बचे। इसके बाद दादा के कुकृत्यों के पक्ष और विपक्ष में (अधिकतर पत्रों में उन्हें ढोंगी और व्यभिचारी ही बतलाया गया था) और भी अनेक चिट्ठियाँ आईं और वे छापी गईं। प्रथम लेख के भेजने वाले दण्डीस्वामी गुरु केशवानन्द अपने लेख में कुछ परिवर्तन देख बहुत नाराज़ हुए और यह कहते हुए कि मेरे लेख को तोड़-मरोड़ कर छापा गया जिससे धूनी-वाले महाराज की निन्दा हुई, सम्पादक को तोड़-मरोड़ करने का अधिकार नहीं था इसलिए वह हरजाने का देनदार है, 'प्रताप'-सम्पादक पर ५००) की मानहानि का दावा दायर कर दिया। उक्त लेख के प्रकाशित होने के बाद तुरंत ही प्रधान सम्पादक जी को उसमें प्रयोग किये गये कुछ शब्द आपत्ति-जनक और अश्लील मालूम हुए और उन्होंने उक्त लेख को सम्पादक की ओर से लिखा हुआ बतलाते हुए, उसकी सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए, उसके लिये 'प्रताप' के कालमों में खेद प्रकट किया था। किसी भी जिम्मेदार सम्पादक से यही आशा की जा सकती है कि अगर दरअसल उससे गलती हुई हो तो वह उसके लिये खेद प्रकट

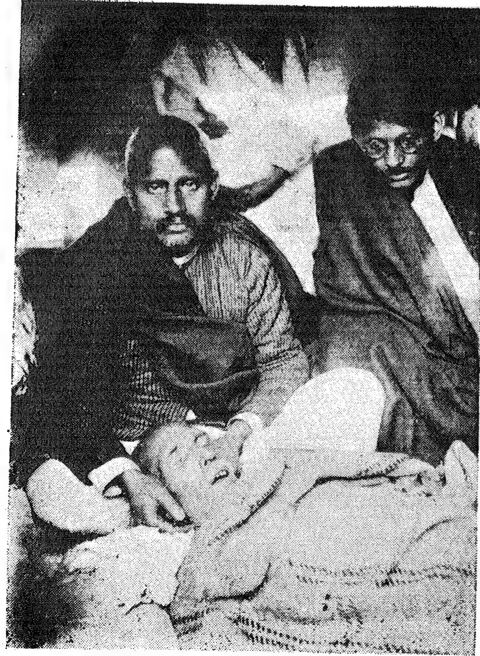
करे। परन्तु दराडीस्वामी ने इसकी कतई परवा न कर के १९ मार्च १९२८ ई० को लखनऊ में मामला दायर कर दिया। 'प्रताप' की ओर से भी सफाई की पूरी तैयारियाँ कर ली गईं, पर मुकदमा शुरू भी न होने पाया था कि बाराबंकी के राजा पृथ्वीपालसिंह जी ने बीच में पड़ कर दोनों दलों में ११ सितम्बर १९२८ को समझौता करा दिया, तथा छोटे दादा ने मामला उठा लिया।

अदालत की तौहीन का मामला

उधर साईंखेड़ा-मानहानि-केस का नोटिस मिला ही था कि इसी बीच एक और मामले का सूत्रपात हुआ। नैनी जेल में उपद्रव हुआ था और २२ अप्रैल १९२८ के 'प्रताप' में 'नैनी जेल का उपद्रव और श्री दुबलिस' * शीर्षक एक टिप्पणी लिखी गई थी। इलाहाबाद हाई कोर्ट ने 'प्रताप' की उस टिप्पणी को आपत्ति-जनक समझा और उस पर अदालत की तौहीन करने (contempt of court) का मामला चलाया।

३० जुलाई १९२८ को सफाई देने का नोटिस दिया गया। इसमें बात यह हुई थी कि जिन दिनों नैनी जेल के उपद्रव का मुकदमा चल रहा था, उन्हीं दिनों यह समझ कर कि उपद्रव की जाँच अदालती कार्रवाई नहीं, उक्त नोट लिखा गया था। भ्रम के कारण ही ऐसा हुआ तथा बाद को यह मालूम हुआ कि मजिस्ट्रेट श्री महेन्द्रप्रसाद की उक्त उपद्रव सम्बन्धी तहकीकात अदालती कार्-

* श्री दुबलिस काकोरी षड्यन्त्र केस के सजायाफ्ता कैदी हैं।





राष्ट्रीय तिरङ्गे झण्डे से ढका हुआ (चिता पर)
विद्यार्थीजी का शव

☞ **विद्यार्थी जी के पूज्य पिता का शव-चित्र**

बाईं ओर विद्यार्थी जी के बड़े भाई श्री शिवव्रत नारायण अपने पिता मुंशी जयनारायण जी के शव को गोद में लिये हुए हैं। बगल में (दाहिनी ओर) विद्यार्थी जी हैं।

वाई थी और उस समय सम्पादक को वैसा नोट लिखने का कोई अधिकार नहीं था। अपनी ग़लती मालूम होने पर 'प्रताप'-सम्पादक ने बड़ी बहादुरी और निर्भीकता के साथ उसे मंजूर किया तथा उसके सम्बन्ध में इस प्रकार अपनी स्थिति साफ़ की :—"यह कानूनी (technical) भूल, यद्यपि भ्रम से हुई, किन्तु हम स्पष्ट रूप से मानते हैं कि भूल हुई। हमने अदालत की तौहीन करने की इच्छा किसी समय भी नहीं की। हमने जिन शब्दों का प्रयोग २२ अप्रैल के उस लेख में किया है, उनसे भी यह बात स्पष्ट है। किन्तु भ्रम के कारण उस अदालत की जो तौहीन हमसे हुई, उसका हमें बहुत खेद है। कानून के प्रहार से अपने को बचाने के लिये नहीं, किन्तु एक जिम्मेदार पत्रकार की हैसियत से, हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि हम से जो भूल हो, जब हम उसे जान लें, हम उसका जितना हो सके उतना प्रतीकार करें।"

३० जुलाई को इलाहाबाद हाई कोर्ट में मामला पेश हुआ और सम्पादक ने उस टिप्पणी के लिये खेद-प्रकाश किया। इस पर हाई कोर्ट ने उस पर से मामला उठा लिया।

हाल की चेतावनी तथा तलाशी

यह पहले बतलाया जा चुका है कि अधिकारी वर्ग बराबर 'प्रताप' को नौकरशाही का एक जबर्दस्त विरोधी और अंग्रेजी सल्तनत का तख्ता उलट देनेवाला, तथा 'प्रताप' प्रेस को ऐसे ही राज-द्रोहियों का अड्डा समझते रहे हैं; और यही कारण है कि ज़रा

खर भी खरखराया नहीं, कि 'प्रताप' को चेतावनी दे दी गई, उसकी तलाशी ले ली गई। ४ सितम्बर १९२७ ई० के 'प्रताप' में इङ्गलैण्ड के विभिन्न राजनैतिक दलों के सम्बन्ध में "एक ही थैली के चट्टे-बट्टे" शीर्षक एक सम्पादकीय लेख 'प्रताप' में छपा। ९ जनवरी १९२८ को इसका हवाला देते हुए चेतावनी दी गई। आर्डिनेंस के बाद १९३० ई० में जब फिर से 'प्रताप' चालू करने के लिये डिक्लेरेशन लिया गया, चेतावनी दी गई। गत १९ अप्रैल के अंक में "सरदार भगतसिंह का बलिदान" शीर्षक एक लेख छपा था। ११ मई को सम्पादक जी बुलाये गये और उक्त लेख का हवाला देते हुए भी चेतावनी दी गई। 'प्रताप' कार्यालय से 'काकोरी के शहीद' और 'आयर्लैंण्ड का स्वातंत्र्य-युद्ध' नामक दो पुस्तकें इधर प्रकाशित हुई थीं। दोनों ही ज़ब्त कर ली गईं और तलाशी ले कर कार्यालय में जितनी प्रतियाँ इनकी मिलीं सभी पुलिस उठा ले गई। 'बोलशेविक रूस' नामक पुस्तक अभी यहाँ से निकलने भी नहीं पाई कि सिर्फ़ उसका नोटिस पढ़ कर ही उस सम्बन्ध में प्रेस की तलाशी ली गई और नोटिस तक की प्रतियाँ उठा कर ले जाई गई। २० मार्च १९२९ ई० को तमाम हिन्दुस्तान में मेरठ षड्यन्त्र केस के सम्बन्ध में तलाशियाँ तथा गिरफ्तारियाँ हुई थीं। उस दिन भी 'प्रताप' प्रेस की तलाशी घण्टों होती रही और प्रेस सम्बन्धी अनेक रजिस्टर तथा कागज़ात कई बोरों में भर कर और लारियों में लाद कर पुलिस वाले ले गये। इसी प्रकार न जाने कितनी दफे 'प्रताप' प्रेस की तलाशियाँ

हो चुकी हैं, हालां कि आज तक कोई भी आपत्ति-जनक चीज पुलिस को यहाँ से नहीं मिली। ५ जुलाई १९३१ के अग्रलेख 'क्या सूबे में आग लगाने का इरादा है ?' के सम्बन्ध में वर्तमान 'प्रताप'-सम्पादक पं० बालकृष्ण शर्मा पर भी इस समय दफ़ा १२४ ए० का मुकदमा चल रहा है।

'प्रताप' छः मास के लिये बन्द

'प्रताप' के अब तक के जीवन में एक मौका ऐसा भी आया, जब कि छः मास तक बराबर उसे अपने देश-भाइयों की सेवा से वंचित रहना पड़ा। 'प्रताप' छः महीने तक बन्द रहा। परन्तु उसका इतने दिनों तक बन्द रहना भी लोक-सेवा और सिद्धान्त-रक्षा की दृष्टि से ही रहा। यह सर्वथा उसकी शान और प्रतिष्ठा के अनुकूल था। सन् १९३० का सत्याग्रह-संग्राम भीषण रूप धारण कर चुका था। सरकार ने प्रेस आर्डिनेंस जारी किया। कांग्रेस ने सभी पत्रों को इस काले कानून के खिलाफ़ अपने पत्रों का प्रकाशन बन्द रखने का आदेश दिया। भला 'प्रताप' ऐसे मामले में कब पीछे रहता। 'प्रताप' प्रेस से भी ३०००) रु० की जमानत माँगी गई। जमानत देने से कतई इनकार कर दिया गया और ४ मई १९३० का अंक निकलने के बाद 'प्रताप' छः महीने के लिये (आर्डिनेंस की मियाद छः महीने की होती है) बन्द हो गया। इस समय दो-चार को छोड़ कर हिन्दी के सभी पत्र बन्द हो गये थे और समाचार पाने के लिये लोगों के पास कोई साधन न थे।

ऐसे समय में अगर 'प्रताप' चाहता तो अपनी नीति में ज़रा सा परिवर्तन करके जमानत दे देता और आवाज़ धीमी करके अपना प्रचार बढ़ा कर खूब पैसे कमाता, जैसा कि राष्ट्रीयता की बड़ी डींग हाँकने वाले चन्द पत्रों ने किया भी। परन्तु नहीं, 'प्रताप' ने ऐसा कभी सीखा ही नहीं। ऐसे जीवन की अपेक्षा वह मौत अच्छी समझता है और इसे उसने प्रत्यक्षतः करके दिखा भी दिया। हजारों का नुकसान उठा कर भी वह अपनी नीति पर कायम रहा; अपने उच्च आदर्श और ऊँची भावना की उसने रक्षा की।

छः महीने बाद आर्डिनेंस ख़तम हो गया और समाचार पत्र फिर दिखाई देने लगे। पर 'प्रताप' निकले तो कैसे? उसके जीवन-सर्वस्व श्रद्धेय विद्यार्थी जी, उसके संयुक्त सम्पादक पं० बालकृष्ण शर्मा, उसके दो सहकारी सम्पादक श्री युगलकिशोर सिंह जी तथा इन पंक्तियों का लेखक, और उसके ट्रस्टियों में एक को छोड़ कर शेष सब—यानी उसके सब कर्त्ताधर्त्ता—जेलों के अन्दर थे। छः महीने तक बन्द रहने के कारण 'प्रताप' की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई थी। फिर भी विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' को चाहे-जैसे हो चलाने का आदेश दिया। 'प्रताप' के एक सहकारी सम्पादक श्री प्रकाशनारायण शिरोमणि अभी जेल जाने से बचे हुए थे और उन्हीं के सम्पादकत्व में 'प्रताप' का पुनरागमन हुआ। श्रद्धेय विद्यार्थी जी के ज्येष्ठ पुत्र भाई हरिशंकर जी आन्दोलन के कारण अपना कालेज छोड़े बैठे थे। इन्होंने इस समय 'प्रताप' को खूब संभाला; बल्कि यों कहना चाहिये कि योग्य पिता के योग्य पुत्र

ने अपने पिता के रिक्त स्थान की बहुत योग्यता-पूर्वक और बहुत खूबी के साथ पूर्ति की। उस समय बड़े-बूढ़े या अनुभवी व्यक्तियों में कोई सलाह देने वाला तक न था। हरिशंकर जी ने इसके पहले न तो कभी सम्पादकीय कलम हाथ में ली थी और न प्रबन्धक की कुर्सी पर ही वे बैठे थे; परन्तु फिर भी सम्पादन से ले कर प्रबन्ध कार्य तक इन्होंने बहुत सुन्दरता-पूर्वक सम्पन्न किया। यों तो इनकी रुचि पत्रकार कला की ओर विशेष है ही, पर उन चार महीनों के अन्दर इन्होंने यह भी साबित कर दिखाया कि वे एक होनहार पत्रकार हैं। आजकल वे 'प्रताप' का संचालन भी कर रहे हैं। दूसरे आर्डिनेंस-राज के खतम होने पर देश में साधारण स्थिति कायम हुई और 'प्रताप' के सभी संचालक तथा सम्पादक जेलों से बाहर आये—तब वह फिर अपने सदा के ढंग से निकलने लगा।

सबसे बड़ी विपत्ति

विद्यार्थी जी इस दफे जेल से 'प्रताप' के सम्बन्ध में बहुत से मनसूबे बाँध कर आये थे। उन्होंने तय किया था कि 'प्रताप' का दैनिक संस्करण फिर निकले, एक मासिक पत्र भी निकाला जाय तथा साप्ताहिक 'प्रताप' में अनेक सुधार करके उसे एक बहुत उच्च कोटि का साप्ताहिक पत्र बना दिया जाय। परन्तु कौन जानता था कि उनके ये सारे मनसूबे, उनके ये सभी अरमान यों ही रह जायँगे! कौन जानता था कि वे इतनी जल्दी हम सबों को छोड़

ऐसे समय में अगर 'प्रताप' चाहता तो अपनी नीति में ज़रा सा परिवर्तन करके जमानत दे देता और आवाज़ धीमी करके अपना प्रचार बढ़ा कर खूब पैसे कमाता, जैसा कि राष्ट्रीयता की बड़ी डींग हाँकने वाले चन्द पत्रों ने किया भी। परन्तु नहीं, 'प्रताप' ने ऐसा कभी सीखा ही नहीं। ऐसे जीवन की अपेक्षा वह मौत अच्छी समझता है और इसे उसने प्रत्यक्षतः करके दिखा भी दिया। हजारों का नुकसान उठा कर भी वह अपनी नीति पर कायम रहा; अपने उच्च आदर्श और ऊँची भावना की उसने रक्षा की।

छः महीने बाद आर्डिनेंस खतम हो गया और समाचार पत्र फिर दिखाई देने लगे। पर 'प्रताप' निकले तो कैसे? उसके जीवन-सर्वस्व श्रद्धेय विद्यार्थी जी, उसके संयुक्त सम्पादक पं० बालकृष्ण शर्मा, उसके दो सहकारी सम्पादक श्री युगलकिशोर सिंह जी तथा इन पंक्तियों का लेखक, और उसके ट्रस्टियों में एक को छोड़ कर शेष सब—यानी उसके सब कर्त्ताधर्त्ता—जेलों के अन्दर थे। छः महीने तक बन्द रहने के कारण 'प्रताप' की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई थी। फिर भी विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' को चाहे-जैसे हो चलाने का आदेश दिया। 'प्रताप' के एक सहकारी सम्पादक श्री प्रकाशनारायण शिरोमणि अभी जेल जाने से बचे हुए थे और उन्हीं के सम्पादकत्व में 'प्रताप' का पुनरागमन हुआ। श्रद्धेय विद्यार्थी जी के ज्येष्ठ पुत्र भाई हरिशंकर जी आन्दोलन के कारण अपना कालेज छोड़े बैठे थे। इन्होंने इस समय 'प्रताप' को खूब संभाला; बल्कि यों कहना चाहिये कि योग्य पिता के योग्य पुत्र

ने अपने पिता के रिक्त स्थान की बहुत योग्यता-पूर्वक और बहुत खूबी के साथ पूर्ति की। उस समय बड़े-बूढ़े या अनुभवी व्यक्तियों में कोई सलाह देने वाला तक न था। हरिशंकर जी ने इसके पहले न तो कभी सम्पादकीय कलम हाथ में ली थी और न प्रबन्धक की कुर्सी पर ही वे बैठे थे; परन्तु फिर भी सम्पादन से ले कर प्रबन्ध कार्य तक इन्होंने बहुत सुन्दरता-पूर्वक सम्पन्न किया। यों तो इनकी रुचि पत्रकार कला की ओर विशेष है ही, पर उन चार महीनों के अन्दर इन्होंने यह भी साबित कर दिखाया कि वे एक होनहार पत्रकार हैं। आजकल वे 'प्रताप' का संचालन भी कर रहे हैं। दूसरे आर्डिनेंस-राज के खतम होने पर देश में साधारण स्थिति कायम हुई और 'प्रताप' के सभी संचालक तथा सम्पादक जेलों से बाहर आये—तब वह फिर अपने सदा के ढंग से निकलने लगा।

सबसे बड़ी विपत्ति

विद्यार्थी जी इस दफे जेल से 'प्रताप' के सम्बन्ध में बहुत से मनसूबे बाँध कर आये थे। उन्होंने तय किया था कि 'प्रताप' का दैनिक संस्करण फिर निकले, एक मासिक पत्र भी निकाला जाय तथा साप्ताहिक 'प्रताप' में अनेक सुधार करके उसे एक बहुत उच्च कोटि का साप्ताहिक पत्र बना दिया जाय। परन्तु कौन जानता था कि उनके ये सारे मनसूबे, उनके ये सभी अरमान यों ही रह जायँगे! कौन जानता था कि वे इतनी जल्दी हम सबों को छोड़

कर चले जायँगे। कौन जानता था कि कानपुर का इस साल का दंगा विद्यार्थी जी को ले जाने ही के लिये आया था ? 'प्रताप' के जीवन का यह वर्ष (अठारहवाँ वर्ष) सबसे अधिक नाजुक रहा है। उसके जीवनदाता, उसके सर्वस्व, उसके सबसे अधिक प्यारे, उसके सबसे बड़े संरक्षक और उसके द्वारा युक्त प्रान्त ही में नहीं बल्कि तमाम हिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों में जागृति और राष्ट्रीयता का सोता बहाने वाले श्रद्धेय विद्यार्थी जी नहीं रहे । वे अपने जीवन की सबसे अमूल्य निधि, अपने कार्यों में सबसे अधिक प्रमुख चिह्न 'प्रताप' को अनाथ कर चले गये। 'प्रताप' द्वारा जिन बातों का बराबर प्रचार करते रहे, अपने जीवन द्वारा जिन आदर्शों का उदाहरण बराबर पेश करते रहे और जिन बड़े कार्यों के लिये ही वे अपने शरीर तथा जान तक की पर्वा नहीं करते थे, उन्हीं बातों, उन्हीं आदर्शों और उन्हीं कार्यों के लिये अपना जीवन तक दे दिया उस महा त्यागी पुरुष ने। 'प्रताप' के लिये यह सब से कठोर आघात हुआ है।

क्या 'प्रताप' इस संकट का सामना करके आगे बढ़ सकेगा ? सन्देह और आशंका की गुंजाइश नहीं। वह जिस प्रकार अब तक पचासों विपत्तियों का मुकाबिला करते हुए आगे बढ़ता आया है, उन सबसे अधिक भयंकर होने पर भी इस विपत्ति का भी वह मुकाबिला करेगा, यदि वह अपने अध्यवसायी संस्थापक के पद-चिह्नों का अनुसरण करता रहेगा। 'प्रताप' को उसने अपने जीवन के रक्त से सींच कर अपने त्याग की आग में तपा कर, अपनी

सत्य-निष्ठा रूपी गंगा जल में पवित्र करके और अपने उच्चादर्श-पालन की कसौटी पर कस कर इतना प्रतापी बनाया है! 'प्रताप' के अंग-अंग में, नस-नस में उसकी श्रेष्ठ भावना, उसका उच्च आदर्श और उसकी आदर्श निष्ठा की ज्योति घर कर गई है। परमात्मा विद्यार्थी जी की इस अनुपम थाती को, राष्ट्र की इस अमूल्य निधि को, और हिन्दी की इस गौरव-प्रतिमा को सदा जीवित-जाग्रत और जाज्वल्यमान रखे।

'प्रताप' की विशेषता

विद्यार्थी जी के समय में 'प्रताप' ने देश के लिये क्या किया तथा अब तक उसमें क्या क्या विशेषता रहती आई है, उसके विषय में भी कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा। देश में जितने भी राष्ट्रीय, सामाजिक और किसानों तथा मजदूरों सम्बन्धी आन्दोलन चले, 'प्रताप' ने सदा उनमें एक बहुत ही बड़ा भाग लिया। होमरूल लीग, १९२१ ई० का असहयोग, पिछले साल का देशव्यापी सत्याग्रह, मुलशीपेठा, बारडोली, खेड़ा और पटुआखाली सत्याग्रह, देशी राज्यों की प्रजा का कष्ट-निवारण, आदि सम्बन्धी आन्दोलनों को आगे बढ़ाने तथा सफल बनाने में 'प्रताप' सदा आगे रहता आया है। उसने इन आन्दोलनों की मदद के लिये 'प्रताप' के स्तम्भों में चन्दे के लिये फंड खोले तथा अपने कृपालु पाठकों से हज़ारों रुपये प्राप्त कर आन्दोलन-संचालकों के पास भेजे। षड्यन्त्रकारियों के मुकदमे की पैरवी करने वाले, षड्यन्त्रकारी अभियुक्तों

के निराश्रित परिवारों की खोज-खबर लेने वाले लोगों का देश में सर्वथा अभाव है। लोग इनके पास फटकने तक में भय खाते हैं। परन्तु निर्भीक 'प्रताप' सदा इन लोगों के मुक़द्दमों की पैरवी तथा इनके परिवार वालों के जीवन-निर्वाह के लिये धन से मदद करता रहा है। साथ ही षड्यन्त्रकारियों पर पुलिस द्वारा आये-दिन जो अनेक अत्याचार होते रहते हैं, उनका घोर विरोध करता रहा है। उसका अपना एक निश्चित सिद्धान्त है और उससे कभी भी वह टलना नहीं जानता। माने गए जरायम पेशा वालों, नायक जाति वालों, आदि को, उनकी शोचनीय दशा से उद्धार दिलाने के लिये, सदा उन्हें उन्नत और सुखी अवस्था में पहुँचाने के लिये आन्दोलन करता रहता है। चिट्ठी-पत्री 'प्रताप' की एक बहुत बड़ी विशेषता है। हर हफ्ते उसमें देश के कोने-कोने से आई हुई कितनी ही चिट्ठियाँ छपती हैं। मामूली से मामूली आदमी की तथा छोटी से छोटी चिट्ठी को भी 'प्रताप' में स्थान दिया जाता है। 'प्रताप' में सिर्फ इन चिट्ठियों के छपने मात्र से हर हफ्ते और हर महीने कितने दुखी लोगों के दुख दूर होते हैं तथा कितने लोगों को और दूसरे-दूसरे लाभ होते हैं। चिट्ठी-पत्री की यह विशेषता हिन्दी के और किसी भी पत्र में नहीं पाई जायगी। 'प्रताप' में जो पाठ्य सामग्री दी जाती है, खूब सोच समझ कर पूरी जिम्मेदारी के साथ और पाठकों की रुचि के अनुकूल दी जाती है। हमारे पाठक कैसे हैं, उन्हें कैसी पाठ्य सामग्री पसन्द है, कैसी पाठ्य सामग्री उनके लिये फ़ायदेमन्द है, इस बात का ख्याल अधिकतर पत्र वाले

नहीं रखते, परन्तु 'प्रताप' में इसका बहुत ख्याल रखा जाता है। विद्यार्थी जी सदा अपने सहकारियों को इसके लिये समझाते रहते थे। वे इस बात का भी बहुत ख्याल रखते थे कि पाठकों की रुचि के अनुसार पाठ्य सामग्री तो जरूर दी जाय, परन्तु वह कुरुचि-पूर्ण न हो, सदा सुरुचि-पूर्ण और सद्विचार-युक्त हो ; और यही कारण है कि आज तक कोई ऐसी अश्लील चीज 'प्रताप' में छपते दिखाई नहीं पड़ी और उसका स्टैण्डर्ड बराबर ऊँचा रहता आया। लेख बड़े न हो कर छोटे हों तथा एक ही विषय के न हो कर विविध विषय के हों, इसका भी पूरा ख्याल रखा जाता है। यह बात भी बराबर ध्यान में रक्खी जाती है कि 'प्रताप' में जो कुछ छपे वह उच्च कोटि का हो, लोगों पर प्रभाव डालने वाला हो। हज़ारों आदमी उसके स्थायी पाठक हो गये हैं और जब तक वे 'प्रताप' का एक दफे पारायण नहीं कर लेते, उन्हें सन्तोष नहीं होता। देश की बड़ी से बड़ी संस्था और बड़ा से बड़ा आदमी भी अगर कोई अनुचित काम करता नज़र आता है अथवा ऐसा काम करता दिखाई पड़ता है जो लोक-हित के लिये बाधक है तो 'प्रताप' को उसके विरोध करने में भी जरा भी हिचक नहीं होती। वह कांग्रेस के निर्णय तथा महात्मा गान्धी तक के विचारों का दो-एक मौके पर खण्डन कर चुका है। उसके सम्पादकीय लेख तथा टिप्पणियों की महत्ताओं तथा चोखेपन को देख कर कितने ही विद्वान भी एक दफ़े 'प्रताप' को देख लेना चाहते हैं। उसकी इन विशेषताओं ने हिन्दी-पत्र-संसार में उसे एक विशेष स्थान प्रदान कर रखा है

देश तथा समाज की वह एक बड़ी शक्ति हो गया है। उसकी लोग काफ़ी क़दर करते हैं, और उसका वज़न मानते हैं। वह एक संस्था बन गया है और उसके द्वारा देश को बहुत अधिक लाभ पहुँचता आ रहा है। वह जिस बुरी बात को लेगा, हाथ धो कर उसके पीछे पड़ जायगा और जहाँ तक हो सकेगा जड़ से उसका नाश करके ही दम लेगा। बाहरी तड़क-भड़क और चमक-दमक का उसके सामने कोई महत्व नहीं, और न इसके फेर में वह कभी पड़ा ही। आजकल हिन्दी समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं में बाहरी चमक-दमक का बहुत ख्याल रखा जा रहा है। विविध प्रकार के चित्रों और लेखों से पत्र का कलेवर खूब बड़ा बना दिया जाता है। विशेषांकों की तो मानो बाढ़ सी आ गई है। किसी किसी पत्र के तो साल भर के अन्दर तीन-तीन विशेषांक निकल जाते हैं। पर अगर गौर से और ठण्ढे दिल से उन पत्रों के सार और गहराई का पता लगाया जाय तो मालूम होगा कि उनमें जितनी चमक है, जितना बाहरी दिखावा है, उनके भीतर दरअसल उतना गुण नहीं। वे भीतर से खोखले हैं। ऐसे विशेषांकों से और ऐसी पाठ्य सामग्री देने से क्या लाभ? 'प्रताप' सफ़ाई और सुन्दरता का विरोधी नहीं, बल्कि पक्षपाती है। पर वह व्यर्थ के आडम्बर से दूर भागता है। जब तक 'प्रताप' के पास साधन न था, धनाभाव था, वह चित्र नहीं देता था। पर इधर कई वर्षों से वह बराबर चित्र देने लगा है। हर हफ़्ते ८-१० सादे चित्र उसमें निकलते हैं, जो तड़क-भड़क की दृष्टि से नहीं, केवल आवश्यकता के लिहाज़ से दिये

जाते हैं। विशेषांक निकालने के भी 'प्रताप' ख़िलाफ़ नहीं, बल्कि १९२५ ई० तक प्राय: हर दूसरे-तीसरे वर्ष उसने भी (शुरू में तो प्रति वर्ष ही) विशेषांक निकाले हैं। पर वे अपने ढंग के अनोखे होते थे, उनमें अनेक ज्ञान-वर्द्धक और उपयोगी लेख होते थे। परन्तु इधर जब उसने विशेषांकों की ऐसी बाढ़ देखी, वह चुप लगा गया और १९२५ ई० के बाद से आज तक उसने कोई विशेषांक नहीं निकाला। फिर भी उसकी पाठ्य सामग्री इतनी अच्छी और लेख इतने उपयोगी होते हैं कि न केवल उसके ही पाठक उसे अपनाते हैं बल्कि उसके लेख प्राय: दूसरे पत्रों में उद्धृत भी किये जाते हैं।

किसानों और मजदूरों की सेवा

इतनी सब बातों के होते हुए भी अगर 'प्रताप' को किसानों और मजदूरों का पत्र कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। 'प्रताप' ने सब आन्दोलनों और कार्यों के साथ साथ देश के अन्नदाता इन दीन-हीन किसानों का जितना ख्याल रखा, जितना उनके हित के लिये आन्दोलन किया, उतना और किसी के लिये नहीं। 'प्रताप' देश के किसानों और मजदूरों का, और किसान और मजदूर 'प्रताप' के। 'प्रताप' ने इन्हें ख़ूब अपनाया तथा इन्होंने 'प्रताप' को ख़ूब अपनाया। 'प्रताप' युक्तप्रान्त, बिहार, हिन्दुस्तानी मध्यप्रान्त, राजपूताना, मध्यभारत आदि प्रान्तों के कोने कोने में तो जाता ही है; बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब में भी उसका प्रताप दिखलाई पड़ता है। युक्त प्रान्त तथा बिहार के किसी

भी स्थान में चले जाइये, आपको 'प्रताप' के दर्शन होंगे, फिर चाहे वह अलमोड़ा, गढ़वाल और नैनीताल के पार्वतीय प्रदेश हों अथवा कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद आदि जिलों के समतल प्रदेश, चाहे वे शहर के बिलकुल सम्पर्क में रहने वाले गाँव हों अथवा शहर से दस-दस और बीस-बीस कोस दूर ठेठ देहाती प्रदेश, जहाँ कि हफ्ते में सिर्फ एक दिन डाँक जाती है। 'प्रताप' युक्तप्रान्त और बिहार के किसानों का तो मानों एक बड़ा भारी हित-चिन्तक, उनका अनन्य मित्र तथा उनका श्रद्धेय नेता है। वे उसकी निकाली हुई राह को प्रशस्त, उसकी कही हुई बात को ठीक और उसकी बताई हुई युक्ति को अपने कल्याण तथा त्राण का उपाय समझते हैं। पटवारी, गाँव के शिक्षक, गाँव के अधपढ़े, अनपढ़े, दुखी और आर्त किसान, अखबारी दुनिया से थोड़ी भी अभिज्ञता रखने वाले लोग 'प्रताप' की सम्मति को अन्तिम सम्मति समझते हैं। 'प्रताप' के एक बात कह देने के बाद उनके आगे और दूसरे की बात कदापि न मानी जायगी। ऐसी धाक है 'प्रताप' की लोगों पर और ऐसी श्रद्धा है लोगों की 'प्रताप' पर।

इन लाखों और करोड़ों की तादाद में देहात की झोपड़ियों में रहने वाले दीन-हीन किसानों के हृदयों में 'प्रताप' के लिये ऐसी श्रद्धा-भक्ति क्यों है? उत्तर बिलकुल स्पष्ट है, जो कि ऊपर भी बतलाया गया है; अर्थात् 'प्रताप' उनका है, वह सदा उनके संकट-मोचन का ख्याल रखता आया है, उसने उन्हें विपत्तियों से उबारा है! प्रान्त भर के किसानों के लिये 'प्रताप' ने कितना आन्दोलन

किया, अपने ऊपर कैसी कैसी विपत्तियाँ मोल लीं, सो किसान लोग खूब जानते हैं। गत ४–५ साल से युक्त प्रान्त में अनावृष्टि, अतिवृष्टि ओले तथा अन्य दैवी तथा भौतिक आपत्तियों से किसानों की जैसी शोचनीय दशा होती रही है तथा इस साल भी जैसी कुछ है, वह किसी से छिपी नहीं है। 'प्रताप' किसानों को इस विपत्ति से उबारने के लिये, उनके लगान माफ कराने तथा उन्हें तकावी आदि की मदद दिलाने के लिये, तालुकेदारों तथा जमींदारों के भीषण अत्याचारों से बचाने के लिये बराबर जी-तोड़ कोशिश करता रहा है। 'प्रताप' का कोई भी अंक उठा कर देख लीजिये, उसमें किसानों के हित की दो-चार-दस बातें आपको ज़रूर मिलेंगी। इसी साल अनाज की सस्ती तथा फ़सल की ख़राबी के कारण किसानों में हाहाकार मचा हुआ है। लोगों को कुछ सूझ नहीं पड़ता था कि वे किस प्रकार क्या करें, कैसे लगान माफ़ करावें। 'प्रताप' ने ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति के नकशे का नमूना तैयार कर 'प्रताप' में छापा तथा लोगों को उसी प्रकार के नकशे बना कर, भर भर कर ज़िला–कलेक्टरों के पास भेजने को कहा। साथ ही सदा के अनुसार किसानों की दुर्दशा की चिट्ठियाँ 'प्रताप' में छापनी शुरू कीं। हर ज़िले में ऐसे सैकड़ों नकशे बने और अधिकारियों के पास भेजे गये तथा उसका समुचित फल भी निकला। 'प्रताप' के किसान-सम्बन्धी आन्दोलन का प्रान्त के अधिकारियों पर बहुत असर पड़ता है और उन्हें लोकमत के भय से सदा इस सम्बन्ध में दबना पड़ता है। 'प्रताप' में हर हफ्ते जो अनेक दुख-भरी कथाएँ छपती

हैं, वे भी इन्हीं दूरस्थ गँवार भाइयों ही की होती हैं। उनकी करुण कहानी भरी, टेढ़े-मेढ़े, उल्टे-सीधे, मोटे-पतले अक्षरों में और बादामी कागज़ पर लिखी हुई अनेक चिट्ठियाँ हर हफ्ते 'प्रताप'-सम्पादक के पास आती हैं। वे दरअसल देखने और पढ़ने लायक चीज़ होती हैं। उनसे मालूम होता है कि वास्तव में हमारे देशवासी भाइयों की क्या हालत है, उन पर कितनी आफ़तें हैं और वे कितनी विपत्तियों से हो कर अपने जीवन की घड़ियाँ बिताते हैं। 'प्रताप' उन सब पत्रों को छापता है और छापता है बड़े प्रेम से। जिनके यहाँ जरूरत मालूम हुई चिट्ठियाँ लिख कर उन्हें उनकी विपत्ति में उचित सलाह भी देता है। लोगों पर होने वाले जिन अत्याचारों और ज्यादतियों को छापने की हिम्मत कोई भी पत्र नहीं करता, 'प्रताप' अपने को ख़तरे में डाल कर, अपने सर पर कफ़न बाँध कर ऐसी ज्यादतियों का भण्डाफोड़ करता है, फिर उसके लिये उसे फल चाहे जो भुगतना पड़े। यही कारण है 'प्रताप' के इतने किसान-प्रिय और उनकी श्रद्धा-भक्ति के पात्र बनने का।

चम्पारन के २०-२२ लाख किसानों के उद्धार में 'प्रताप' ने जो हाथ बँटाया, वह उसके इतिहास में सदा स्मरण रखने की चीज़ है। वहाँ के गोरे निलहे वहाँ की दीन-हीन प्रजा पर जैसे जैसे भीषण और पाशविक अत्याचार करते थे, 'प्रताप' ने महीनों तक उनकी अच्छी तरह पोल खोली, उनके ख़िलाफ़ बड़ा ज़बर्दस्त आन्दोलन उठाया। इसके लिये उसे चेतावनी दी गई, उसके अंक

तक ज़ब्त हुए, पर वह अपने कर्त्तव्य से कभी विचलित नहीं हुआ, सदा प्रजा की पुकार को गगन-मण्डल में गुञ्जारता ही रहा।

'प्रताप' और देशी राज्य

देशी रियासतों की प्रजा पर वहाँ के नरेशों द्वारा जो अत्याचार होते हैं, 'प्रताप' सदा उनका घोर विरोध करता है। न केवल प्रजा पर होने वाले अत्याचारों का ही, बल्कि देशी नरेशों की फ़िजूलखर्ची, उनके दुराचरण, उनके खराब शासन, आदि के ख़िलाफ़ भी वह सदा घोर आन्दोलन करता रहा है। 'प्रताप' में एक पृष्ठ देशी राज्यों की दुख-कथाओं और धांधलियों के लिये सदा रिज़र्व रहता है और उसमें देशी नरेशों की पोल अच्छी तरह खोली जाती है। उदयपुर राज्य के बिजौलिया के सम्बन्ध में तो समय समय पर उसने इतना अधिक आन्दोलन किया है कि चम्पारन के जैसे ही यह भी 'प्रताप' के इतिहास की एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु है। सभी रियासतों के सम्बन्ध की आवश्यक बातें और शिकायतें सदा 'प्रताप' में छपती रही हैं। उसकी नीति सदा निष्पक्ष और न्याय-परायण रही है। वह दूध को दूध और पानी को पानी कहता रहा है, वह तुर्क को शाह कहने का आदी कभी नहीं रहा और इसीलिये अब तक वह अनेक देशी रजवाड़ों का कोप-भाजन बन चुका है। रियासतों की ओर से अनेक दफे उसे धमकियाँ दी गईं, प्रिंसेस प्रोटेक्शन ऐक्ट (देशी नरेश-रक्षा कानून) के अनुसार मुकदमा चलाने की चेतावनियाँ दी गईं, ग्वालियर, मेवाड़, जयपुर,

जोधपुर, उदयपुर, इन्दौर, टिहरी, आदि अनेक राज्यों में 'प्रताप' का प्रवेश तक बन्द कर दिया गया, पर 'प्रताप' अपनी नीति पर अटल रहा। 'प्रताप' देशी नरेशों की कुचालों और उनके राज्यों में होने वाले अत्याचारों का विरोध ज़रूर करता रहा है, परन्तु उसके साथ ही देशी नरेशों पर भारत सरकार द्वारा की जाने वाली ज्यादतियों और अन्यायों के ख़िलाफ़ भी वह उसी प्रकार अपनी आवाज़ बुलन्द करता रहा है। अगर उसने भरतपुर-नरेश के राज्य में होने वाले अत्याचारों का विरोध किया तो भरतपुर-नरेश के ज़बर्दस्ती गद्दी से उतारे जाने की नीति के खिलाफ़ भी आवाज़ उठाई। अगर उसने इन्दौर के भूतपूर्व नरेश सर तुकोजीराव महाराज के समय उनकी प्रजा पर होने वाली ज्यादतियों और शासन की गड़बड़ियों की आलोचना की तो साथ ही अन्याय-पूर्वक उनके सिंहासन-च्युत किये जाने का भी घोर विरोध उसने किया। इन्दौर के महाराज सर तुकोजीराव जब गद्दी छोड़ने को विवश किये गए, उस समय किसी भी पत्र ने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाई। आए-दिन एक न एक देशी रियासत पर ऐसी गाज गिरना विद्यार्थी जी को बहुत नापसन्द था। उन्होंने 'प्रताप' में उनके सिंहासन-च्युत किये जाने का बड़ा ज़ोरदार विरोध किया। 'प्रताप' के आवाज़ उठाते ही और पत्रों की भी मानों नींद खुल गई और फिर तो कइयों ने उनका साथ दिया। इस घटना के सम्बन्ध में कई साधारण आदमियों ने भी लाभ उठा लिया और 'प्रताप' चाहता तो बहुत अधिक लाभान्वित हो सकता था। और कुछ नहीं

तो इन्दौर रियासत में उसके प्रवेश की जो मनाही थी, वह तो बड़ी आसानी से हट ही जाती। इसके लिये उन्हें संकेत भी मिला, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ भी लिखना वे आत्माभिमान के विरुद्ध समझते थे। न तो वे सरकार पर कभी अनुचित आक्रमण करते और न अपनों का अनुचित पक्षपात। विद्यार्थी जी पर, उनके 'प्रताप' पर, इसके लिये कभी कोई उगली नहीं उठा सकता। इसी प्रकार नाभा, बस्तर, आदि के राजाओं तथा राज-परिवारों के साथ भारत-सरकार द्वारा की जाने वाली ज्यादतियों और निरंकुशताओं का भी 'प्रताप' ने बराबर विरोध किया। किसी की बुराई के लिये अगर वह उसकी आलोचना करना जानता है, तो एक श्रेष्ठ पत्र की तरह वह उसकी अच्छाइयों के लिये उसकी प्रशंसा करना भी जानता है। कई दफे कई देशी नरेशों की ओर से 'प्रताप' को रुपये के प्रलोभन भी दिये गये ताकि वह उनकी बुराई न करे, उनके राज्य में होने वाले अत्याचारों का भण्डाफोड़ न करे; अगर प्रशंसा न करे तो कम से कम तीव्र आलोचना भी तो न करे। परन्तु 'प्रताप' का अस्तित्व रुपया कमाने के लिये नहीं है। नाजायज्ञ तरीके से उसके सामने आने वाले सोने चाँदी के टुकड़ों का मूल्य मिट्टी के ढेले के बराबर भी नहीं।

एक बार एक प्रसिद्ध देशी राज्य के सम्बन्ध में 'प्रताप' में कुछ शिकायत छपी। इस राज्य के महाराजा साहब विद्यार्थी जी को व्यक्ति-गत रूप से जानते और अपना ही आदमी समझते थे। इसलिये आपने विद्यार्थी जी को इस सम्बन्ध में अपने यहाँ

जोधपुर, उदयपुर, इन्दौर, टिहरी, आदि अनेक राज्यों में 'प्रताप' का प्रवेश तक बन्द कर दिया गया, पर 'प्रताप' अपनी नीति पर अटल रहा। 'प्रताप' देशी नरेशों की कुचालों और उनके राज्यों में होने वाले अत्याचारों का विरोध ज़रूर करता रहा है, परन्तु उसके साथ ही देशी नरेशों पर भारत सरकार द्वारा की जाने वाली ज्यादतियों और अन्यायों के ख़िलाफ़ भी वह उसी प्रकार अपनी आवाज़ बुलन्द करता रहा है। अगर उसने भरतपुर-नरेश के राज्य में होने वाले अत्याचारों का विरोध किया तो भरतपुर-नरेश के ज़बर्दस्ती गद्दी से उतारे जाने की नीति के खिलाफ़ भी आवाज़ उठाई। अगर उसने इन्दौर के भूतपूर्व नरेश सर तुकोजीराव महाराज के समय उनकी प्रजा पर होने वाली ज्यादतियों और शासन की गड़बड़ियों की आलोचना की तो साथ ही अन्याय-पूर्वक उनके सिंहासन-च्युत किये जाने का भी घोर विरोध उसने किया। इन्दौर के महाराज सर तुकोजीराव जब गद्दी छोड़ने को विवश किये गए, उस समय किसी भी पत्र ने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाई। आए-दिन एक न एक देशी रियासत पर ऐसी गाज गिरना विद्यार्थी जी को बहुत नापसन्द था। उन्होंने 'प्रताप' में उनके सिंहासन-च्युत किये जाने का बड़ा ज़ोरदार विरोध किया। 'प्रताप' के आवाज़ उठाते ही और पत्रों की भी मानों नींद खुल गई और फिर तो कइयों ने उनका साथ दिया। इस घटना के सम्बन्ध में कई साधारण आदमियों ने भी लाभ उठा लिया और 'प्रताप' चाहता तो बहुत अधिक लाभान्वित हो सकता था। और कुछ नहीं

तो इन्दौर रियासत में उसके प्रवेश की जो मनाही थी, वह तो बड़ी आसानी से हट ही जाती। इसके लिये उन्हें संकेत भी मिला, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ भी लिखना वे आत्माभिमान के विरुद्ध समझते थे। न तो वे सरकार पर कभी अनुचित आक्रमण करते और न अपनों का अनुचित पक्षपात। विद्यार्थी जी पर, उनके 'प्रताप' पर, इसके लिये कभी कोई उंगली नहीं उठा सकता। इसी प्रकार नाभा, बस्तर, आदि के राजाओं तथा राज-परिवारों के साथ भारत-सरकार द्वारा की जाने वाली ज्यादतियों और निरंकुशताओं का भी 'प्रताप' ने बराबर विरोध किया। किसी की बुराई के लिये अगर वह उसकी आलोचना करना जानता है, तो एक श्रेष्ठ पत्र की तरह वह उसकी अच्छाइयों के लिये उसकी प्रशंसा करना भी जानता है। कई दफे कई देशी नरेशों की ओर से 'प्रताप' को रुपये के प्रलोभन भी दिये गये ताकि वह उनकी बुराई न करे, उनके राज्य में होने वाले अत्याचारों का भण्डाफोड़ न करे; अगर प्रशंसा न करे तो कम से कम तीव्र आलोचना भी तो न करे। परन्तु 'प्रताप' का अस्तित्व रुपया कमाने के लिये नहीं है। नाजायज़ तरीके से उसके सामने आने वाले सोने चाँदी के टुकड़ों का मूल्य मिट्टी के ढेले के बराबर भी नहीं।

एक बार एक प्रसिद्ध देशी राज्य के सम्बन्ध में 'प्रताप' में कुछ शिकायत छपी। इस राज्य के महाराजा साहब विद्यार्थी जी को व्यक्ति-गत रूप से जानते और अपना ही आदमी समझते थे। इसलिये आपने विद्यार्थी जी को इस सम्बन्ध में अपने यहाँ

बुलाया। विद्यार्थी जी ने अपने सहज स्वभाव के अनुसार एक हैण्ड-बेग उठाया और चल पड़े। उनके साथ उनके मित्र श्री बृन्दा-बनलाल वर्मा भी थे। स्टेशन पर उस राज्य के कर्मचारी विद्यार्थी जी को लेने आये थे। वे विद्यार्थी जी को पहचानते न थे, इसलिये प्लेटफार्म पर इधर उधर दौड़ लगा रहे थे। वर्मा जी से उनकी परेशानी छिपी न रही और उन्होंने एक कर्मचारी से पूछा—"आप किसे ढूंढ़ रहे हैं?" उत्तर मिला—"कानपुर के एडीटर साहब को।" वर्मा जी ने विद्यार्थी जी की ओर इशारा करते हुए कहा—"वे ये हैं।" बिलकुल सीधी-सादी पोशाक में, एक बहुत मामूली आदमी के जैसी उस दुबली-पतली आडम्बर-शन्य मूर्ति को देख कर महाराज के कर्मचारी अकचका गये, उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। विद्यार्थी जी के नाम पर एक हैण्ड-बेग था, जिसे हाथ में लटकाये वे चले जा रहे थे। उन बेचारों को क्या पता था कि यही दुबला-पतला आदमी महाराज का मेहमान है, यही मामूली कुर्ता-धारी 'प्रताप' का सुप्रसिद्ध एडीटर (सम्पादक) है।

दूसरे दिन महाराज से उनकी मुलाकात हुई। सामने की मेज़ पर 'प्रताप' में प्रकाशित शिकायतों से सम्बन्ध रखने वाली फाइलों का ढेर लगा हुआ था। आसपास महाराज के सेक्रेटरी विराजमान थे। विद्यार्थी जी के आते ही महाराज खड़े हो गये और तुरन्त व्यंग के साथ बोले—'तशरीफ़ रखिये। मैं इस राज्य का अपना स्थान आपके लिये खाली करने को तैयार हूँ। आप अपने

उसूलों के मुताबिक राज्य कीजिये।' विद्यार्थी जी के मुसकुराते हुए बैठ जाने के बाद महाराजा साहब ने फिर फरमाया—'मुझको तो इस बात का अभिमान था कि हमारी रियासत के एक होनहार व्यक्ति ने बाहर जा कर खूब नाम कमाया, पर आपके पेपर ने हमारे ही ऊपर सितम कर डाला।' महाराजा साहब के उस व्यंग और खुशामद का विद्यार्थी जी पर कोई असर न पड़ा। 'प्रताप' में छपे हुए शिकायती पत्रों से सम्बन्ध रखने वाली फाइलें उलट-पुलट कर विद्यार्थी जी को पढ़ाई-सुनाई गईं।

विद्यार्थी जी को मालूम हुआ कि शिकायत में सम्वाददाता की भूल थी। उन्होंने तुरन्त कहा—'मैं इसका भ्रम-संशोधन—प्रतिवाद—छापने को तैयार हूँ। और अगर इसके पहले भी आप उस शिकायती पत्र का प्रतिवाद भेज देते तो मैं उसे जरूर प्रकाशित कर देता।' पर उस शिकायती चिट्ठी के सम्बन्ध में एक मामला ऐसा निकला, जिसके न्याय के सम्बन्ध में विद्यार्थी जी महाराज से सहमत न हो सके। विद्यार्थी जी ने कहा कि इस आदमी के साथ तो आपने न्याय नहीं किया? महाराज ने झेंपते हुए केवल 'खैर' कहा और फिर चुप हो गये। इस सम्बन्ध में मन्त्रियों ने खामखाह विद्यार्थी जी का समाधान करने की चेष्टा की, परन्तु वे सन्तुष्ट न हो सके।

विद्यार्थी जी के चलने के दिन महाराज के मन्त्री ने विद्यार्थी जी के सामने कुछ नोट उपस्थित करते हुए कहा—'यह आपका मार्ग-व्यय है।'

विद्यार्थी जी ने नोट लेने से इनकार करते हुए कहा—'इसकी ज़रूरत नहीं।'

'परन्तु मुझे आज्ञा मिली है कि आपका मार्ग-व्यय दे दिया जाय।'

विद्यार्थी जी ने उत्तर दिया—'मैं यहाँ अपने काम से—सत्यासत्य की जाँच करने के लिये—आया था। ऐसी दशा में मेरे लिये आप से राह-ख़र्च लेना ठीक नहीं।'

घर में आई हुई लक्ष्मी का इस प्रकार तिरस्कार करते देख कर मंत्री ने विद्यार्थी जी से फिर कहा—'आप इसका ख्याल न करें। हमारी रियासत ग़रीब नहीं है।'

'जनाब, हमारा 'प्रताप' भी गरीब नहीं है।'—मंत्री को तुरन्त यह दर्प पूर्ण उत्तर मिला और इसके पहले कि वह कुछ कह सकें, विद्यार्थी जी वहाँ से चल दिये। महाराज साहब नाराज हो गये और इसके बाद आपने अपने राज्य में 'प्रताप' का जाना बन्द कर दिया।

स्वाभिमान और ऊँचे आदर्श के सामने रुपया-पैसा मिट्टी के बराबर भी नहीं, विद्यार्थी जी इसे खूब जानते थे और इस एकमात्र घटना से मालूम होता है कि उनमें कितना स्वाभिमान, कितना चरित्र-बल था!

एक बड़ी रियासत के महाराज साहब के साथ भारत-सरकार बहुत अन्याय कर रही थी। उन्हें राज्य-च्युत करने के लिये उन पर अनेक इलज़ाम लगाये गये थे। 'प्रताप' ने अपनी सदा की

अन्याय-विरोधिनी-नीति के अनुसार इसका बड़ा जोरदार विरोध किया, बड़ा आन्दोलन उठाया। महाराज साहब को मालूम हुआ और उन्होंने विद्यार्थी जी को इसके लिये कुछ द्रव्य भेंट करना चाहा। विद्यार्थी जी ने साफ़ इनकार करते हुए उत्तर दिया कि अत्याचार और अन्याय का विरोध करना हमारा धर्म है, हमने अपना कर्त्तव्य समझ के ऐसा किया है। इसके लिये भेंट और पुरस्कार कैसा! जनाब महाराज साहब को जब यह मालूम हुआ तो उन्हें उनके इस त्याग और निःस्वार्थ भाव पर बड़ा आश्चर्य हुआ।

इसी प्रकार एक बार एक और रियासत के सम्बन्ध में 'प्रताप' ने आन्दोलन किया। विद्यार्थी जी के एक परिचित महाशय बिना विद्यार्थी जी को बतलाये, वहाँ के महाराजा साहब के पास पहुँचे और यह कह कर कि मैंने 'प्रताप' में आपके लिये इतना आन्दोलन करवाया है, दस हज़ार रुपये ऐंठ लाये। वह महाशय विद्यार्थी जी के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित थे; इसलिये न तो उनकी हिम्मत चांदी के उन टुकड़ों को ले कर उनके सामने आने ही की हुई और न इस बात को खोलने ही की। पर किसी प्रकार विद्यार्थी जी को यह बात मालूम हो गई। उन्होंने उन महाशय को बुला कर 'प्रताप' को इस प्रकार बदनाम करने के लिये बड़ी डाट बतलाई और उसी दम रुपया वापिस करने को कहा। पर, तब तक रुपया सब उड़ाया जा चुका था! महाशय जी ने बहुत माफी मांगी। विद्यार्थी जी ने उसी समय उक्त महाराज को पत्र लिख कर

इस रहस्य को बतला दिया तथा 'प्रताप' की नीति तथा स्थिति अच्छी तरह समझा दी ! महाराजा साहब चकित रह गये।

उदयपुर राज्य की ओर से एक बार विद्यार्थी जी को प्रलोभन में फंसाने की चेष्टा हुई थी। उदयपुर के एक मुसलमान मजिस्ट्रेट वहाँ पहुँचे। उन्होंने उन्हें कई हजार देने का प्रलोभन दिया। चाहते केवल यह थे कि उदयपुर राज्य की खबरें भेजने वाले के कागज-पत्र उन्हें दे दिये जायँ। इस पर 'प्रताप' प्रेस के हमारे कुछ मित्रों ने यह भी सोचा था कि मियां साहब को कुछ सबक दे दिया जाय।' उन्हें कागज-पत्र दिये जाँय ! पर साथ ही पुलिस को पहले से बुला कर तैयार रखा जाय। ज्यों ही वे निकलें उन्हें कागज चुरा कर ले जाने के जुर्म में गिरफ्तार करा दिया जाय। किन्तु गणेश जी बुरी नीयत से आने वाले शत्रु के साथ भी विश्वास-घात करने के पक्षपाती न थे। उन्होंने उन्हें स्पष्ट उत्तर दे दिया कि यह सम्पादकीय नियमों और नैतिकता के विरुद्ध है। मियाँ साहब के सारे प्रलोभनों पर उन्होंने ठोकर मार दी।

लेखक और कवि : विस्तार और प्रचार

'प्रताप' पर शुरू से ही हिन्दी के अच्छे-अच्छे लेखकों और कवियों की कृपा-दृष्टि रही है। सामयिक घटनाओं तथा देश की विविध हलचलों से ही उसका कलेवर प्रायः पूरा हो जाता है, फिर भी प्रायः बड़े-बड़े विद्वानों के लेख तथा प्रसिद्ध कवियों की कविताएँ उसमें दी जाती रही हैं। 'प्रताप' के लेखकों में राजा महेन्द्र-

प्रताप, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार, पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० बेनीप्रसाद, प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, श्री पीर महम्मद मूनिस, पं० रामगोविन्द त्रिवेदी आदि, तथा कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री त्रिशूल, श्री सियाराम शरण गुप्त, श्री नवीन, श्री वीरेन्द्र विद्यार्थी, स्वर्गीय मन्नन द्विवेदी गजपुरी, श्री विकसित, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

'प्रताप' का प्रचार हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों में तो है ही, विदेशों में भी है। हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्त वाले यह अच्छी तरह जानते हैं कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी में 'प्रताप' ही सर्वोत्कृष्ट पत्र है, इसका स्टैण्डर्ड सब से ऊँचा है, यह सिद्धान्त का पत्र है, और इसीलिये दूसरे प्रान्तों के अन्य-भाषा-भाषी भाई भी इसे अपनाते हैं। इसकी ग्राहक-संख्या और प्रचार सदा इतना रहा है, जितना कि किसी भी हिन्दी साप्ताहिक का कभी नहीं रहा। युक्त प्रान्त की किसी भी वर्ष की शासन-रिपोर्ट को उठा कर देखिये, उस तक में 'प्रताप' की उग्र नीति तथा उसकी सब पत्रों से अधिक ग्राहक-संख्या होने की बात आप पायेंगे। 'प्रताप' को मामले-मुकदमों के कारण प्रति वर्ष हज़ारों रुपये ख़र्च करने पड़े, उसका साधारण मासिक ख़र्च भी कई कारणों से बहुत बढ़ा हुआ है, फिर भी 'प्रताप' स्वावलम्बी है और इधर कई वर्षों से स्वावलम्बन-पूर्वक जीवन व्यतीत करता चला आ रहा है; जब कि देश के दो-एक के सिवा सभी हिन्दी साप्ताहिक

पत्र आज भी घाटे पर चल रहे हैं। उसने हिन्दी पत्रकार-संसार में एक बहुत श्रेष्ठ और अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर दिया है।

हिन्दी साहित्य की सेवा : एक नई धारा

'प्रताप' ने हिन्दी साहित्य की अब तक जो सेवा की है, उसके लिये हिन्दी भाषा-भाषी उसके सदा कृतज्ञ रहेंगे। ग्रामीणों में हिन्दी-प्रचार का उसने बहुत बड़ा काम किया है। अब तक न जाने कितने ग्रामीण सिर्फ़ 'प्रताप' को पढ़ने मात्र के लिये हिन्दी पढ़ना-लिखना सीख चुके हैं। उसकी भाषा बड़ी सरल, बिलकुल बोल-चाल की, बिलकुल ठेठ रहे, ताकि एक साधारण-से-साधारण आदमी भी उसे अच्छी तरह समझ सके, इसका बहुत अधिक ख्याल रखा जाता है। जब श्रद्धेय विद्यार्थी जी थे, उस समय अगर कभी कोई बात कुछ क्लिष्ट रूप में चली जाती तो उसी समय उसके लिये अपने सहकारियों को वे आगाह करते और समझाते कि 'प्रताप' तो ग्रामीणों और मजदूरों का पत्र है, इसमें साहित्य तथा अलंकार न भरो, इसमें उन किसानों के हृदय तक पहुँचने वाली, उन्हीं की अन्तरात्मा की आवाज़, उन्हीं के बड़े भोले-भाले और सीधे-सादे शब्दों में दिया करो। ख़ुद वे बहुत सरल और बिलकुल बोलचाल की भाषा लिखते थे। विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' द्वारा हिन्दी को एक नई राह बताई, उसे एक नई दिशा की ओर और ऐसी दिशा की ओर, जिसे सभी बहुत पसन्द करते हैं, मोड़ा। 'प्रताप' की हिन्दी एक अनुकरण करने की चीज़ हो गई, वह टकसाली भाषा हो गई।

हिन्दी साहित्य सदा इसके लिये विद्यार्थी जी और 'प्रताप' का ऋणी रहेगा।

'प्रताप' की विज्ञापन-नीति

'प्रताप' के संचालकों ने 'प्रताप' निकालने के कुछ ही वर्षों बाद इस बात को महसूस किया कि 'प्रताप' में हर तरह के विज्ञापन न छापे जायँ। हर तरह के विज्ञापन छापने से पैसे तो मिलते हैं; परन्तु उनसे कुरुचि का प्रचार होता है, लोगों की नैतिक तथा आर्थिक हानि होती है। इसलिये 'प्रताप' में ऐसे विज्ञापनों को, जो कुप्रवृत्ति उत्पन्न करें और जिनसे लोग ठगे जायँ अथवा ठगे जाने की सम्भावना हो, स्थान देना बन्द कर दिया गया। शिलाजीत, मकरध्वज आदि शास्त्रीय औषधियों के सम्बन्ध में इस बात का सदा विचार रखा जाने लगा कि विज्ञापन में उनका वर्णन अश्लीलता की सीमा तक न पहुँच जाय। आज तक इस बात का पालन होता चला आ रहा है। शुरू में, जब कि 'प्रताप' ने इस नीति का अवलम्बन किया था, उसके बहुत से विज्ञापन-दाता उससे नाराज हो गये, बहुतों ने 'प्रताप' में अपना विज्ञापन देना बन्द कर दिया, कइयों ने अपने रुपये वापिस मँगाये; परन्तु 'प्रताप' यह क्षति उठा कर भी अपने सिद्धान्त से, अपनी एक निश्चित नीति से विचलित न हुआ। इस प्रकार विज्ञापनों के नियन्त्रण की ऐसी नींव डाल कर उसने समाचार पत्रों के विज्ञापन सम्बन्धी दूषण दूर करने का सराहनीय प्रयास किया। आजकल

समाचार पत्रों में ऐसे विज्ञापनों की भरमार है जिनसे पाठकों की रुचि भी बिगड़ती है और वे खूब ठगे भी जाते हैं। अगर पत्रकार लोग थोड़ी हिम्मत करके ऐसे विज्ञापनों के नियन्त्रण का ख्याल रखें, तो लोगों का इससे बड़ा लाभ हो। शुरू में भले ही पत्रकारों को इससे कुछ हानि हो, पर आगे चल कर उनको लाभ ही होगा। 'प्रताप' ऐसे विज्ञापनों को नहीं लेता, फिर भी उसके पास अच्छे विज्ञापनों की कमी नहीं रहती है। पत्रकारों को इस ओर जरूर ध्यान देना चाहिये।

'प्रताप' अमर हो!

'प्रताप' पर ऊपर जो एक दृष्टि डाली गई है, उसे पढ़ कर पाठक यह जान सकते हैं कि 'प्रताप' कैसे कण्टकाकीर्ण रास्ते से हो कर गुज़रता आया है। ऐसी दशा में भी उसकी स्थिति साहित्य तथा पत्रकार-संसार के लिये एक गौरव की वस्तु है। अगर उस पर आये-दिन इतनी आपत्तियाँ न आतीं, उसे आर्थिक कठिनाइयों के कारण परेशान न होना पड़ता तो आज वह और भी उन्नत और श्रेष्ठ दशा में होता, पर मनुष्य का मनचीता नहीं होता। वह सोचता कुछ है और होता कुछ और है। यही हालत 'प्रताप' की भी रही। वह अपने रूप-रंग और आकार-प्रकार में उन्नति और परिवर्तन के सम्बन्ध में अब तक जैसा कुछ सोचता रहा, उसके अनुरूप वह अभी तक नहीं बन सका। सन्तोष की बात तो यही है कि वह सदा अपने सिद्धान्त और उच्च आदर्श पर कायम रहने के लिये

प्रयत्न-शील रहा। उसमें त्रुटियाँ हैं, पर त्रुटियों से कौन बचा है? फिर भी उसके संचालक उसे और भी अच्छा बनाने, उसे और भी लोकोपयोगी सिद्ध करने और उसे अधिक से अधिक त्रुटि-रहित करने की कोशिश में हैं। ईश्वर करे अमर शहीद गणेशशङ्कर विद्यार्थी का प्रतापी 'प्रताप' अमर हो कर हिन्दी भाषा-भाषियों की अधिक से अधिक सेवा करे।

दैनिक 'प्रताप'

देश की, और विशेष कर हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों तथा दीन-हीन देशवासियों की, महान आवश्यकता को अनुभव करके और सेवा की एक उच्च भावना तथा पत्र-संचालन के एक ऊँचे आदर्श से प्रेरित हो कर 'प्रताप' के संचालकों ने एक दफे उसे दैनिक रूप में निकालने का भी निश्चय किया। हिन्दी में एक उच्च कोटि का दैनिक पत्र निकालने में कितने परिश्रम, कितने उद्योग, कितनी धन-राशि और कितनी शक्तियों की आवश्यकता होती है, जो लोग यह जानते हैं, वे ही भली-भाँति यह अनुभव कर सकते हैं कि 'प्रताप' के संचालकों ने 'प्रताप' को दैनिक रूप में निकालने का भार अपने ऊपर ले कर कितनी बड़ी जिम्मेदारी ले ली। परन्तु विघ्न-बाधाओं से घबड़ाना या कठिनाइयों को सामने देख कर मुँह मोड़ लेना, 'प्रताप' और 'प्रताप' के संचालकों ने कभी नहीं सीखा। ख़ासकर श्रद्धेय विद्यार्थी जी की तो मानों कठिनाइयों का बड़ी वीरता के साथ मुकाबिला करने की आदत सी पड़ गई थी।

यही कारण था कि 'प्रताप' के संचालकों ने अपनी शक्तियों और मार्ग की कठिनाइयों की कुछ भी परवा न करके मातृ-मन्दिर में दैनिक पुष्प चढ़ाने का संकल्प किया। इस संकल्प के अनुसार श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी के सम्पादकत्व में कार्तिक शु० १२ सं० १९७७ (२३ नवम्बर १९२० ई०) से दैनिक 'प्रताप' भी निकलने लगा।

दैनिक 'प्रताप' के प्रादुर्भाव के समय जो सन्देश पूज्य पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने 'प्रताप' के लिये भेजा था, वह हिन्दी पत्रकारों के लिये मनन करने योग्य है। अतएव उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

'प्रताप'! तुम्हारे आविर्भाव के समय ही तुम्हारे कार्य-कलाप देख कर हृदय में यह भाव उदित हुआ कि तुम कुछ काम कर दिखाओगे। वह संभावना सच निकली। अत्यन्त छोटे बीज के भीतर जिस प्रकार वट का प्रकाण्ड वृक्ष छिपा रहता है, उस तरह तुम्हारे उस आरंभिक अवतार में तुम्हारा यह आज का आकार और प्रकार भी निहित था। थोड़े ही दिनों में बढ़ कर तुमने अपनी कर्त्तव्य-छाया के आविष्करण से सहस्र: भारत-वासियों के अन्त:करण को सुखी कर दिया। अब तो तुम उस छाया के प्रभाव को और भी दूर दूर तक बढ़ा रहे हो। यह तुम्हारी कर्त्तव्य-निष्ठा, सतत चिन्ता, कार्य-तत्परता, सत्य-प्रीति और श्रम-सहिष्णुता का फल है।

ईश्वर करे तुममें पूर्वोक्त गुणों का दिन-पर-दिन आधिक्य होता जाय। ईश्वर करे, तुम्हारे मार्ग पर चलने वालों की कामनाएँ

सफल हों। ईश्वर करे, किसी दिन तुम्हें सभ्य, शिक्षित और स्वतंत्र देश इंगलैण्ड के 'टाइम्स' की पदवी भारत में प्राप्त हो जाय। अपने देश को ही अपना आराधना-मन्दिर और देश-वासियों को ही अपना आराध्य देव समझो। भेद-भाव से दूर रहो। सत्य का सदा आदर करो। कर्त्तव्य-पालन ही को अपना सब से बड़ा धर्म मानो। न्याय-पथ से कभी भ्रष्ट न हो। परमात्मा को सर्व-साक्षी समझ कर अपनी आत्मा को अन्याय के लेश से भी संश्लिष्ट न होने दो। न किसी के कोप से विचलित हो, न किसी के प्रसाद से कर्त्तव्य-च्युत। याद रखो, सच्चे, सर्व-हित-चिन्तक और सरल मार्ग-गामी सज्जन ही संसार में सफल-काम होते हैं।

एक बात और करो। विवेक को कभी हाथ से न जाने दो। जो कुछ करो, परिणाम पर ध्यान दे कर, सोच-समझ कर करो। ऐसा न हो कि तुम्हारे किसी अपरिणामदर्शी कार्य के कारण तुम्हारे मार्ग का अवरोध हो जाय, अथवा तुम्हारी गति ही मन्द पड़ जाय। सर्व-साधारण जनों के सच्चे सेवक बनने की चेष्टा करो। उन्हीं के हित को अपना हित समझो। उन्हीं की सन्तुष्टि, उन्हीं की उन्नति, उन्हीं की कार्य-सिद्धि को अपना सब से बड़ा पुरस्कार जानो।

भगवान इस शुभाभिलाष को सफल करे।

विघ्नबाधाभयैर्मुक्ताः सर्वैश्वर्यसमन्विताः।
भवन्तु त्वत्प्रयत्नेन सर्वे भारतवासिनः॥

जुही
१६ नवम्बर १९२० ई० — महावीरप्रसाद द्विवेदी।

कुछ ही दिनों के अन्दर दैनिक 'प्रताप' के पाँच हज़ार के लगभग ग्राहक हो गये और जब तक वह निकला, बड़ी शान और रोब के साथ निकला। उन दिनों तमाम यू० पी० में दैनिक 'प्रताप' की बड़ी धूम थी। यही नहीं बल्कि पत्रकार-कला तथा हिन्दी साहित्य के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि दैनिक 'प्रताप' अपने उसी उच्च आदर्श तथा उसी भव्य भावना पर बलि भी चढ़ गया। साप्ताहिक 'प्रताप' अपने जन्म-काल से ही, जिस समय वह एक नवजात शिशु था उस समय से ही, नौकरशाही की आँखों का काँटा रहा है और नौकरशाही ने उसके मिटाने की, उसको खतम कर देने की कोई चेष्टा बाकी नहीं छोड़ी। फिर दैनिक 'प्रताप' उसकी तथा दूसरे अत्यन्त निरंकुश और अत्याचारी सत्ता-धारियों की कोप-दृष्टि से कैसे बच सकता था। साप्ताहिक ही की तरह दैनिक 'प्रताप' भी स्पष्ट-वादी था, निरंकुश और अत्याचारी सत्ता-धारियों का घोर विरोधी था। यही उसका सबसे बड़ा अपराध था और इसी के लिये वह बहुत बदनाम (?) रहा और अन्त में इसी का उसे शिकार होना पड़ा। एक ताल्लुकेदार की कारगुजारियों को 'प्रताप' देख नहीं सका। डंके की चोट उसने उन भीषण पाशविकताओं, अत्याचारों, अन्यायों और खूँख्वारियों की पोल खोली। ताल्लुकेदार साहब, और ऐसे ताल्लुकेदार साहब जिनकी पीठ पर एक बड़ी भारी शक्ति का हाथ हो, भला इसे कैसे चुपचाप सुन और सह लेते? आपने दैनिक 'प्रताप' के सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक पर मान-हानि का दावा दायर कर दिया। पर सिर्फ यह

प्रहार काफ़ी न समझा गया तथा प्रान्तीय सरकार उसके संचालकों से पन्द्रह-पन्द्रह हज़ार की जमानतें और मुचलके भी माँग बैठी। उधर देशी रियासतों की कृपा हुई और ७-८ रियासतों ने अपने राज्य में 'प्रताप' का जाना बन्द कर अपने राज्य की प्रजा को 'प्रताप' द्वारा किये जाने वाले भयंकर अनिष्ट से बचा लिया! 'प्रताप' के संचालकों के लिये, ऐसी स्थिति में, इतनी आपत्तियों से घिरे होने की हालत में, उसी ऊँचे आदर्श, उसी ऊँची भावना, साथ ही उसी आन-बान और शान के साथ दैनिक 'प्रताप' का निकालना असंभव जान पड़ा। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसका जन्म हुआ था, अगर वही न हो सकता था, तो उसका अस्तित्व फिर किस काम का! यही सोच कर 'प्रताप' के कर्णधारों ने आषाढ़ शुक्ल १ सं० १९७८ (६ जुलाई १९२१ ई०) तक निकाल कर 'प्रताप' का दैनिक संस्करण बन्द कर दिया। रायबरेली-केस में फँसे रहने के कारण विद्यार्थी जी ने दैनिक 'प्रताप' का सम्पादन उसके अन्तिम कुछ दिनों में छोड़ दिया था। उतने दिन पालीवाल जी सम्पादक रहे।

रायबरेली का मुकदमा

जनवरी १९२१ ई० में युक्त प्रान्त के रायबरेली जिले में किसानों पर भीषण गोलीकाण्ड हुआ। कहा जाता है कि किसानों ने उपद्रव मचाने की चेष्टा की थी और इसलिये गोलियाँ चलाई गईं। इस गोलीकाण्ड में अनेक किसान जान से मारे गये और

सैकड़ों घायल हुए। 'प्रताप' ने अपना विशेष प्रतिनिधि भेज कर इस हत्याकाण्ड की जाँच करवाई और उसका पूरा-पूरा ब्योर 'प्रताप' में छापा, टिप्पणी और अग्रलेख में उसकी निन्दा की जाँच से काफ़ी प्रमाणों के साथ 'प्रताप'-सम्पादक को यह भी पता चला था कि उस गोलीकाण्ड में वहाँ के ताल्लुकेदार सरदार वीर पाल सिंह का ज़बर्दस्त हाथ था, उन्होंने भी गोली चलाई थी और 'प्रताप' में इस कारण उनकी खबर ली गई। सरदार वीरपाल सिंह ने १३ तथा १९ जनवरी १९२१ ई० के दैनिक 'प्रताप' के लेखों को अपने लिये मानहानि कर बतलाते हुए माफ़ी माँगने अन्यथा मुक दमे के लिये तैयार रहने को ललकार बताई। 'प्रताप' के शे सम्पादक श्री गणेशशङ्कर जी भला माफ़ी क्यों माँगने लगे! जो बात ठीक है, जिसे दुनिया पुकार पुकार कर उचित बतलाती है और जिसके सत्य होने के बीसों प्रमाण हैं, उसके लिये माफ़ी कैसी! उत्तर दिया गया, अदालत की शरण लेना चाहते हों तो लीजिये हम वहाँ अपनी सफ़ाई दे लेंगे, सारी बातों का भण्डाफोड़ करेंगे माफ़ी की आशा हमसे न कीजिये। सरदार ने दफा ५०० (मान हानि) के अनुसार मुकदमा दायर कर दिया और ५ फ़रवरी १९२१ ई० से वह शुरू भी हो गया। मुकदमा 'प्रताप' के सम्पादक श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी तथा मुद्रक और प्रकाशक पं० शिवनारा यण जी मिश्र के ख़िलाफ़ था। मुकदमा लड़ा गया और खूब लड़ा गया और इसलिये लड़ा गया कि दुनिया को वास्तविक बातों का पता चल जाय, गोलीकाण्ड की भीषणता तथा उसके प्रवर्त्तकों के

अत्याचारों की पोल खुले तथा अवध के किसानों पर आये-दिन होनेवाले पाशविक-अत्याचारों का अन्त हो जाय। छः महीने तक रायबरेली के स्पेशल डिप्टी कलक्टर मुंशी मकसूदअली खाँ की अदालत में मुकदमा चलता रहा। सफ़ाई के ५० गवाह गुज़रे, जिनमें पं० मोतीलालनेहरू, पं० जवारलालनेहरू, श्री सी० एस० रंगाऐयर, श्रीकृष्णराम मेहता, डा० अवन्तिकाप्रसाद आदि अनेक बड़ेही सुप्रतिष्ठित और चोटी के आदमी भी थे। 'प्रताप'की ओर से डा० जयकरणनाथ मिश्र आदि ७-८ नामी वकील पैरवी करते रहे थे। वैसे तो रायबरेली में पैरवी के लिये 'प्रताप' के दस-बीस आदमी बराबर बने ही रहते थे, पर पेशियों के दिनों बड़ा जमाव होता। कानपुर से झुण्ड-के-झुण्ड लोग जाते और उधर रायबरेली ज़िले के किसानों का दल आता। बड़ी चहल-पहल, बड़ी सनसनी रहती। मुकदमे ने एक बड़ा राजनैतिक-रूप धारण कर लिया था, प्रान्त भर के लोग बड़ी उत्सुकता के साथ उसकी कार्यवाहियों का अनुसरण करते थे। रायबरेली ज़िले में तो जिधर सुनिये इसी की चर्चा रहती। वहाँ के किसानों ने विद्यार्थी जी को 'प्रताप बाबा' नाम दिया और सदा वे उन्हें इसी नाम से सम्बोधित करते रहे। सच्ची बातों का इस प्रकार पक्ष लेने तथा उसके लिये इतनी कठिनाइयों तथा आर्थिक हानि को उठाते देख 'प्रताप बाबा' के ऊपर उन लोगों की श्रद्धा बहुत ही बढ़ गई थी।

३० जुलाई १९२१ ई० को मुंशी मकसूदअली खाँ साहब ने मुकदमे का फैसला सुना दिया। दोनों अभियुक्तों पर दो-दो अभि-

योग थे। दोनों के लिये तीन-तीन महीने की सादी कैद तथा पाँच-पाँच सौ रुपया जुर्माने की सज़ा दी गई। सज़ाएँ दोनों एक साथ चलने का हुक्म हुआ, इसलिये उनकी मियाद तो तीन मास ही रही, परन्तु जुर्माने की रकम दोनों मिलाकर फ़ी आदमी १०००) हो गई। विद्यार्थी जी और मिश्र जी हँसते हुए, जै-जैकार के गगन-भेदी नारों के बीच जेल गये। परन्तु डा० जयकरण नाथ मिश्र ने बड़ी मुस्तैदी दिखायी, बड़ी दौड़-धूप की और अधिकारियों के बाधा डालते रहने पर भी, साथ ही बहुत कम समय होने की दशा में भी चार हज़ार की जमानत देकर, दोनों आदमियों को वे जेल से उसी दिन उसी वक्त़ छुड़ा लाये। विद्यार्थी जी तथा मिश्र जी की इच्छा नहीं थी कि ज़मानत दी जाय अथवा अपील की जाय; पर उनके मित्रों ने न माना और उन्हें ज़मानत पर छुड़ा लिया तथा चीफ़कोर्ट में अपील करने का निश्चय किया।

चीफ़कोर्ट लखनऊ में मुकदमे की अपील हुई। वहां भी सेशन जज मि० शेरिंग की अदालत में कई महीनों तक मुकदमा चलता रहा और अन्त में ४ फ़रवरी १९२२ ई० को मि० शेरिङ्ग ने अपील ख़ारिज कर दी। अपील का मुकदमा जिन दिनों चल रहा था, विद्यार्थी जी ने उन्हीं दिनों १०८ की अपनी जमानत रद्द करा दी तथा वे जेल चले गये और अपील के फ़ैसले के समय वे जेल ही में थे। अपील के बाद मिश्र जी ने अपनी अपील वापिस ले ली और नीचे की अदालत के फैसले की तीन महीने वाली सज़ा भुगतने जेल चले गये; परन्तु इन्ही दिनों

प्रिंस आफ़ वेल्स के आने के उपलक्ष में तीन मास तक की सज़ा वाले कैदी छोड़े गये ; इसलिये दो-तीन दिन जेल में रहने के बाद ही मिश्र जो जेल से छोड़ दिये गये। जुर्माने का एक-एक हज़ार रुपया इन लोगों से वसूल कर के सरदार वीरपाल सिंह को दिया गया। इस मुकदमे में 'प्रताप' की भीषण आर्थिक क्षति हुई। लगभग तीस हज़ार रुपये खर्च हुए। मानसिक चिन्ता, शक्तियों की बर्बादी और दिन रात की परेशानी अलग रही। सरदार वीरपाल सिंह ने तो अपने को बचाने के लिये कुछ भी उठा नहीं रखा। कहते हैं कि उन्होंने पानी की तरह रुपया बहाया था।

मुकदमे में 'प्रताप' की हार हुई। पर दरअसल हार हुई, ऐसा नहीं कह सकते ? नौकरशाही की अदालत तथा वीरपाल सिंह की नज़रों में भले ही 'प्रताप' की हार हुई हो, दुनियाँ की नज़रों में, रायबरेली के किसानों की निगाह में और ख़ुदा की पाक-साफ़ अदालत की नज़र में उसकी हार नहीं हुई, उसकी जीत, और बड़ी जीत हुई। जहाँ तक जनता का सम्बन्ध है, वहाँ तक 'प्रताप' का मुकदमा लड़ने का उद्देश्य सोलहों आने सफल हुआ। रायबरेली-हत्याकाण्ड का रहस्य संसार के सामने अच्छी तरह खुल गया; संसार ने अवध के किसानों की दुर्दशा का परिचय पाया; सरकारी विज्ञप्तियों की प्रमाणिकता की पोल खुल गई तथा लोगों ने ब्रिटिश-न्याय का एक नया नमूना देखा। 'प्रताप' की शक्ति और सम्पत्ति बहुत खर्च हुई ; पर सत्य और सिद्धान्त की रक्षा के लिये अपने ऊँचे आदर्श और ऊँची भावना को सुरक्षित

रखने के लिये ही उसने यह सब कुछ बर्दाश्त किया। सत्य प्रेमियों को ऐसा करना ही पड़ता है।

तीस हज़ार की ज़मानत और मुचलके

"The publice life in U. P- can not be safe unless the 'Pratap' is crushed." अर्थात् 'जबतक 'प्रताप' का अन्त न कर दिया जायगा, तब तक संयुक्त-प्रान्त का सार्वजनिक जीवन सुरक्षित नहीं हो सकता।' ये शब्द हैं नौकरशाही के एक महाप्रभु के, जो उन्होंने १९२१ ई० में 'प्रताप' के सम्बन्ध में टीका करते हुए कहे थे। 'प्रातap' सरकार तथा उसके महाप्रभुओं की आँखों में कितना और किस रूप में खटकता रहा है, उपरोक्त वाक्य के पढ़ने से पाठक उसका अन्दाज़ लगा सकते हैं। 'प्रताप' पर आये-दिन सरकार ने एक-न-एक गाज गिरायी, उसे पस्त कर डालने, उसे कुचल डालने, उसका अन्त कर देने के लिये कोई भी बात उठा नहीं रखी। सर पर तलवार लटक रही हो, चारों तरफ से आग की लपटें दौड़ी आ रही हों और पैर के नीके की जमीन खिसकी जा रही हो, ऐसी आपत्ति-ग्रस्त स्थिति सदा रही है 'प्रताप' की, युक्त प्रान्तीय सरकार की विशेष कृपा-दृष्टि के कारण। ज़रा सोचने की बात है कि ऐसी दशा में किसी पत्र को अपनी बँधी हुई नीति और अकड़ के साथ निकालना कैसी टेढ़ी खीर है।

जिन दिनों रायबरेली-मानहानि का मुक़दमा विद्यार्थी जी और

मिश्र जी पर चल रहा था, नौकरशाही ने 'प्रताप' पर एक और भीषण प्रहार किया। २७ अप्रैल १९२१ ई० को विद्यार्थी जी और मिश्र जी से क्रमशः उनके 'प्रताप' के सम्पादक तथा मुद्रक और प्रकाशक होने की हैसियत से, पाँच-पाँच हज़ार के मुचलके और दस-दस हज़ार की दो-दो जमानतें देने का समन दिया गया। समन में कहा गया था कि रायबरेली और फ़ैजाबाद के किसानों की अशान्ति के सम्बन्ध में लेख लिख और प्रकाशित कर राजद्रोह का प्रचार किया गया, सम्राट् की प्रजा में जाति-द्वेष फैलाया गया, इस लिये इन लोगों से दफा १०८ के अनुसार नेक चलनी के लिये एक वर्ष के लिये पाँच-पाँच हज़ार के मुचलके तथा दस-दस हज़ार की जमानतें तलब की जाती हैं। समन मिलने के कुछ ही रोज़ पहले मिश्र जी 'प्रताप' के मुद्रक और प्रकाशक-पद से अलग हो गये थे, चूँकि एक तो हृद्-रोग के कारण उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था और दूसरे रायबरेली के मुकदमे में वे इतने व्यस्त थे कि प्रेस में क्या छपता है क्या नहीं, इसका वे कुछ ख्याल तक नहीं कर पाते थे। इसीलिये उनको मुद्रक और प्रकाशक न रखना ही ठीक समझा गया। १०८ दफ़ा का समन जब विद्यार्थी जी को मिला, तो उन्होंने सम्पादन-कार्य से इस्तीफ़ा दे दिया, पर 'प्रताप' के ट्रस्टियों ने उनका इस्तीफ़ा मंजूर नहीं किया, उन्हें कुछ दिनों के लिये छुट्टी दे दी। विद्यार्थी जी के इस्तीफ़ा देने का कारण और कुछ नहीं, सिर्फ 'प्रताप' की हित-चिन्ता थी। उन्होंने इसे उचित नहीं समझा कि अपने कारण किसी भी हालत

में वे 'प्रताप' को १५०००) की जोखिम में रखें। जनानत और मुचलके देकर उनके 'प्रताप' के सम्पादक-पद पर रहने से 'प्रताप' ऐसी जोखिम में रहता कि 'प्रताप' में यदि एक शब्द भी अधिकारियों की इच्छा के विरुद्ध निकले, तो १५०००) की रकम पर बात-की-बात में पानी फिर जाय। साथ ही विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' को बहुत ही योग्य और होशियार लोगों के हाथों में दे रखा था, जिससे उनके सम्पादक न रहने पर भी 'प्रताप' की रीति-नीति और श्रेष्ठता में किसी प्रकार का फर्क पड़ने की आशंका न थी। अब जब कि विद्यार्थी जी को छुट्टी मिल गई तथा वे 'प्रताप' के संपादक नहीं रहे, अगर १५०००) की जमानत और मुचलका देते भी हैं तो इससे 'प्रताप' जोखिम में नहीं पड़ता। उधर मिश्र जी भी उसके मुद्रक और प्रकाशक नहीं रहे थे, इसलिये उनके भी जमानत-मुचलका देने से 'प्रताप' को किसी प्रकार की जोख़िम न रही। दोनों की दशा एक सी हो गई, और 'प्रताप' जोख़िम से बच गया। अब जेल जाने क या जमानत-मुचलका देने की ज़िम्मेदारी व्यक्तिगत रूप से इन दोनों की हो गई। उन दिनों रायबरेली का मुकदमा चल रहा था। उस समय अगर ये लोग जमानतें और मुचलका दाखिल न कर जेल चले जाते, तो मुकदमा लड़े जाने का उद्देश्य—रायबरेली-हत्याकाण्ड का रहस्योद्घाटन—तो पूरा नहीं ही होता, साथी ही इसका बुरा असर 'प्रताप' पर भी पड़े बगैर नहीं रहता। इसलिये सबों की सलाह से उस समय जमानत तथा मुचलका दे देना ही ठीक समझा गया।

और तदनुसार २३ मई १९२१ ई० को मुचलका तथा जमानतें दे दी गईं। जुलाई में रायबरेली-केस का फ़ैसला मजिस्ट्रेट की अदालत से हो गया, मुकदमा लड़ने का मकसद पूरा हो गया, उसकी अपील भी फिर दायर कर दी गई; इसलिये सिद्धान्त और देश के नाम पर सदा सब प्रकार की तकलीफ़ें बर्दाश्त करने ही के लिये तैयार रहने वाले नहीं, बल्कि मर मिटने तक के लिये मुस्तैद रहनेवाले विद्यार्थी जी ने दफ़ा १०८ के अनुसार अपने को जमानत और मुचलके का शिकार बना कर अब अपने को जेल से बाहर रखना उचित न समझा और १६ अक्टूबर १९२१ई० को अपना मुचलका तथा जमानतें रद्द करवा कर वे स्वयं ही जेल चले गये। पं० शिवनारायण जी ने अपना मुचलका और जमानतें रद्द नहीं नहीं कराईं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उन्हें रद्द करवाने नहीं दी गईं। इसका एक बहुत प्रबल कारण था। पंडित जी को हृद्-रोग था और उसका दौरा कभी-कभी ऐसा भयंकर होता कि उनके जीवन तक की आशंका होने लगती। इसलिये स्वयं विद्यार्थी जी ने तथा मिश्र जी के कई मित्रों ने बल-पूर्वक मिश्र जी को जेल जाने से रोका। इसके अतिरिक्त रायबरेली का मुकदमा अभी चल ही रहा था, जिसमें विद्यार्थी जी और मिश्रजी में से एक का बाहर रह कर उसकी पैरवी करना बहुत जरूरी था। इसके साथ ही 'प्रताप' के सुसंचालन के लिये भी और ऐसे समय जब कि विद्यार्थी जी जेल चले गये, पंडित जी का बाहर रहना अनिवार्यतः आवश्यक था।

दैनिक 'प्रताप' फिर कर्म-क्षेत्र में

देश में भीषण-संग्राम मचा हुआ था, आन्दोलन की प्रखर किरणों से दिग्-दिगन्त व्याप्त थे। चारों तरफ़ एक विचित्र दृश्य उपस्थित था, जिधर निगाह दौड़ाइये, अत्याचार, धाँधली, लाठी-राज्य, पुलिस-राज्य, नादिरशाही, के नज़ारे नज़र आते थे। देश के ७० हज़ार चुने हुए नौनिहाल, भारत के भावी-भाग्य-विधाता, आज़ादी के दीवाने, जेलों के सीखचों के अन्दर बन्द स्वतंत्रतादेवी की आराधना कर रहे थे। ऐसे ही समय में, देश के इसी आन-बान के मौके पर, पूरे नौ वर्षों के विश्राम के बाद मार्गशीर्ष शु० १ सं० १९८७ वि० (२१ नवम्बर १९३२ ई०) को दैनिक 'प्रताप' फिर कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। इस समय उसके प्रवर्त्तक तथा पुराने जन्म-दाता श्रद्धेय विद्यार्थी जी तथा साप्ताहिक 'प्रताप' के सभी पुराने और बाद के सम्पादक जेलों में बन्द थे, रास्ते में सर्वत्र कठिनाइयाँ ही-कठिनाइयाँ थीं, परन्तु सत्ता-धारियों के अत्याचारों की ख़बर लेने के लिये दैनिक 'प्रताप' फिर निकला। इस बार उसके सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक हुए श्रीयुत प्रकाश नारायण जी शिरोमणि। शिरोमणि जी ने युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी के अध्यक्ष श्रीयुत पुरुषोत्तमदास जी टंडन का मर्दुमशुमारी का बहिष्कार-सम्बन्धी एक सन्देश उसमें प्रकाशित किया। अधिकारी तो आँख गड़ाये बैठे ही थे, झट से शिरोमणी जी को क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेण्ट एक्ट की धारा १७ अ० के

अभियोग में २९ दिसम्बर १९३० को गिरफ्तार कर लिया। अभियोग यह लगाया गया कि प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी एक ग़ैर-कानूनी संस्था है और उसकी विज्ञप्ति छाप कर उन्होंने ग़ैर-कानूनी काम किया है, पर वास्तव में प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी ग़ैर-कानूनी करार नहीं दी गई थी और शिरोमणिजी पर कदापि उक्त अभियोग लागू नहीं होता था। किन्तु कौन किसकी सुनता था उस ज़माने में! शिरोमणि जी को छः मास की कड़ी कैद तथा ५०) जुर्माने की सज़ा दे दी गई, परन्तु सेशन ज़ज ने उस महा अन्धेर-काल में भी अपनी अक्ल और दिमाग़ दुरुस्त रखा तथा अपील में सज़ा रद्द कर न्याय-परायणता की कुछ इज्ज़त रख ली। इधर शिरोमणि जी की गिरफ्तारी के समय तक ही—एक महीने के अन्दर-ही-अन्दर—देश में ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गई कि 'प्रताप' का, स्वाभिमान के साथ, अपनी बँधी हुई रीति-नीति और परिपाटी के साथ और अपनी जमी हुई धाक के साथ, अग्रसर होना असंभव हो गया। इसलिये सिर्फ ३५ अंकों के निकालने के बाद ही २ जनवरी १९३१ ई० से दैनिक 'प्रताप' का प्रकाशन फिर बन्द हो गया। इस बार भी दैनिक 'प्रताप' की ख़ासी धूम रही और लोगों ने उसे ख़ूब अपनाया। सिर्फ़ एक मास का बच्चा था वह, अभी सँभल के बैठने भी नहीं पाया था; परन्तु उसमें ऐसी प्रतिभा थी, वह ऐसा होनहार दीखता था, उसमें कुछ ऐसा तेज था कि दो हज़ार से भी अधिक आदमियों ने उसे अपना लिया था। अब दैनिक प्रताप फिर कब निकलेगा, यह भविष्य के गर्भ में है।

नवयुग-प्रकाशन-मन्दिर

अंग्रेजी और अन्य योरोपीय-भाषाओं में कुछ ऐसी पुस्तक-मालाएँ हैं, जिनकी सभी पुस्तकें अपने विषय की प्रमाणिक होती हैं, और किसी पुस्तक का उन मलाओं से प्रकाशित होना ही उस की अच्छाई का द्योतक होता है। किसी भी भाषा के साहित्य में ऐसी पुस्तक-माला का होना उस भाषा के लिये गौरव की बात है। इससे पाठकों को एक विशेष सुविधा रहती है। यदि उनके अनुकूल विषय की कोई पुस्तक उस माला से निकली है, तो उन्हें विश्वास रहता है कि पुस्तक काम की होगी, उसमें कोई धोखा न होगा।

इसी आदर्श को सामने रख कर 'नवयुग-प्रकाशन-मन्दिर का जन्म हुआ है। आदर्श बहुत ऊँचा है, रास्ता उतना ही कठिन। साथ ही आजकल हिन्दी के पाठकों की रुचि जिस ओर जा रही है, और कुछ स्वार्थी पुस्तक-प्रकाशकों-द्वारा उनकी उस रुचि को जो बढ़ावा दिया जा रहा है, उससे हमारा मार्ग और भी बाधामय हो गया है। पर तो भी आज हम साहस-पूर्वक इस ओर अपना कदम बढ़ाते हैं और उस मंगल मय से प्रार्थना करते हैं कि वह हमारा यही साहस और उत्साह सदा बनाये रक्खे, हमें अपने आदर्श से कभी न गिरने दे।

आज भारत में ही नहीं, सारे संसार में हम एक नए युग की झाँकी देख रहे हैं। साहित्य, धर्म, समाज, राजनीति, सभी दिशाओं में इस युग का प्रकाश फैलता जा रहा है। नवयुग प्रकाशन-मन्दिर इन सभी दिशाओं में पाठकों की सेवा करेगा, और इस युग को शीघ्र-से-शीघ्र पाठकों के पास से पास पहुँचाने का भरसक प्रयत्न करेगा।

गांधी जी इस युग के दीक्षा-गुरु हैं, पैग़म्बर हैं। उन्होंने अपनी तपस्या से भारतवर्ष में इस नए युग को साकार करके प्रत्यक्ष रूप में हमारे बहुत समीप ला दिया है। उन्होंने हमको इसका सात्विक-रूप दिखलाया है। हम शीघ्र ही 'मन्दिर' से गांधी-साहित्य-माला नाम की एक अलग ही पुस्तक-माला निकालेंगे और उसके द्वारा गांधी जी संबंधी अधिक-से-अधिक साहित्य पाठकों की भेंट करेंगे।

यदि 'नबयुग-प्रकाशन-मन्दिर' पाठकों के सामने इस नवयुग का सन्देश सच्चे सात्विक रूप में रख सका, यदि इस 'मन्दिर' ने हमारे जीवन में, हमारे रहन-सहन में, हमारे धार्मिक और सामाजिक विचारों में, और हमारे साहित्य में एक सात्विक क्रान्ति की लहर उत्पन्न कर दी, हमें विपथ से सुपथ की ओर मोड़ने में तनिक भी सहायता की—और यह सब करते हुए, सारी वाधाओं के सामने अपने आदर्श पर अटल खड़ा रहा, तो हम अपने इस प्रयास को सार्थक समझेंगे।

सूचना के रूप में यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि नवयुग-प्रकाशन-मंदिर का जन्म किसी व्यक्ति-विशेष की स्वार्थ-पूर्ति के लिये नहीं हुआ है। केवल शुद्ध सेवा भाव से ही इसका उदय हुआ है, और इसी के लिये यह जियेगा। जो कुछ भी 'मंदिर' का आर्थिक लाभ होगा, उससे उसी की पूँजी बढ़ेगी और अपने लाभ के प्रमाण में उत्तरोत्तर वह अधिकाधिक सेवा करने का प्रयत्न करता रहेगा।

सुमंगल प्रकाश
मन्त्री

नवयुग-प्रकाशन-मन्दिर की पुस्तकें

'कांग्रेस के प्रस्ताव'

१८८५-१९३१

अनुवादक और सम्पादक—श्री कन्हैयालाल

इस पुस्तक में आरम्भ (सन् १८८५) से सन् १९३१ तक के कांग्रेस के सभी साधारण और विशेष अधिवेशनों के समस्त प्रस्तावों का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद है। आरम्भ में काशी-विद्यापीठ के आचार्य नरेन्द्रदेव जी का लिखा हुआ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास भी दिया हुआ है, जिससे पुस्तक का महत्व बहुत बढ़ गया है । परिशिष्ट में कांग्रेस-विधान के विकास का इतिहास तथा कांग्रेस सम्बन्धी अन्य ज्ञातव्य बातें हैं और अन्त में ८५ पृष्ठों की विस्तृत वर्णानुक्रमणिका भी दी हुई है ।

पुस्तक की उत्कृष्टता और प्रमाणिकता इसी से प्रगट है कि कांग्रेस-कार्य-समिति ने इसके प्रकाशन में आर्थिक सहायता पहुँचाने के अतिरिक्त इसकी १०० प्रतियाँ भी ख़रीद ली है ।

पुस्तक की भूमिका पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखी है ।

ग्लेज़ काग़ज़ पर छोटे टाइप में छपी हुई, लगभग साढ़े सात सौ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४) ।

"भारतीय राष्ट्रीय अन्दोलन का इतिहास"

लेखक—आचार्य नरेन्द्रदेव

यह पुस्तक "कांग्रेस के प्रस्ताव, १८८५-१९३१' के ही आरम्भ का ऐतिहासिक अंश है । इसकी उपयोगिता और श्रेष्ठता लेखक के

नाम से ही प्रगट है। इस विषय पर हिन्दी में कोई भी अन्य पुस्तक न होने के कारण यह अलग भी पुस्तक-रूप में प्रकाशित कर दी गई है। इस पुस्तक की भी १०० प्रतियाँ अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी ने खरीद ली है। मोटे ऐण्टिक कागज पर छपी हुई पुस्तक का मूल्य ||) ।

"गणेशङ्कर विद्यार्थी"

लेखक—श्री देवव्रत (संयुक्त सम्पादक, "प्रताप")

भूमिका-लेखक—पं० जवाहरलाल नेहरू

यह पुस्तक स्वर्गीय विद्यार्थी जी की प्रामाणिक जीवनी है। अमर शहीद विद्यार्थी जी की कोई भी जीवनी अभी तक नहीं छपी है। योग्य लेखक ने इस पुस्तक को हर प्रकार से सुन्दर और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। पुस्तक की उत्कृष्टता और प्रामाणिकता इसी से प्रगट है कि इसके लेखक 'प्रताप' का सम्पादन कार्य करते हुए पिछले कई बरसों से विद्यार्थी जी के निकटतम सम्पर्क में रहे हैं। इस पुस्तक के लिखने के लिये जितनी सामग्री 'प्रताप'-कार्यालय और विद्यार्थी जी के कुटुम्बियों से उपलब्ध हो सकती थी, वह तो उनके पास थी ही; साथ ही उन्होंने विद्यार्थी जी के नए और पुराने मित्रों से पत्र-व्यवहार करके प्रचुर प्रमाण में आवश्यक सामग्री जुटा कर बड़े परिश्रम से यह पुस्तक लिखी है। आर्ट पेपर पर छपे हुए विद्यार्थी जी और उनके परिवार के आठ दस चित्रों वाली, मोटे ऐण्टिक कागज़ पर छपी हुई अजिल्द पुस्तक का मूल्य १||) और सजिल्द का २) ।

नवयुग-प्रकाशन-मन्दिर

विद्यापीठ रोड, बनारस छावनी